पत्रों द्वारा

जैनतत्त्व परिचय

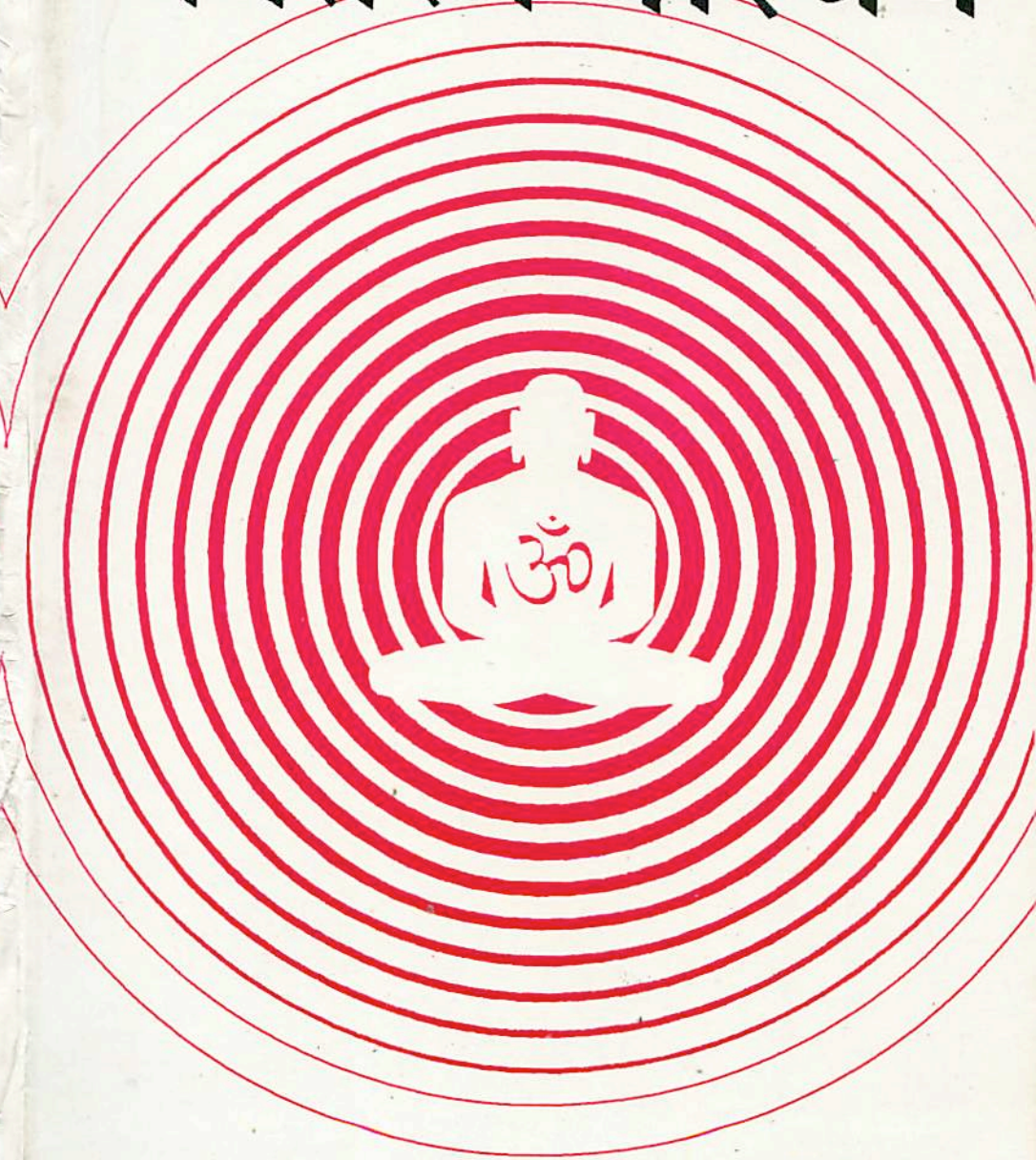

डॉ. श्रीमती उज्ज्वला दि. शहा

Jain Adhyatma Academy of North America (JAANA)

Dear Sadharmi Brother/Sister :

Jai Jinendra !

Jain Adhyatma Academy of North America (JAANA) is extremely delighted to present "**JAIN TATTVA PARICHAY**" to you as a part of our ongoing **Gyan Prabhavana to preserve, propagate and perpetuate Jain Adhyatma in North America.**

This book is written by Dr. Ujwala Dinesh Shah. She is one of the most revered scholars on Jainism. She has explained the basics of Jain Adhyatma in a very simple way to make it easy to understand for beginners.

We are immensely indebted to the JAINA Executive Committee for allowing us to distribute this book to every Jain family attending the 12th Biennial JAINA Convention in Cincinnati, Ohio and thereby tremendously encouraging us in our main activity of Gyan Prabhavana. If you wish to get an additional copy of this book either in Hindi. Gujarati or in English for you or for your friend, please feel free to contact us. JAANA would also be glad to provide as many books as you wish (free of any charges) for the members of the Jain centre in your city, to learn Jain Adhyatma or to add in the library for circulation.

With the help of JAINA, we have mailed 'Dharam ke Das Laxan' by Dr. Bharill to every Jain family (7500) in North America.

JAANA will gladly send a large number of certain selected books for prabhavana on any special occasion as part of our Gyan Prabhavana project (free of any charge).

To get additional books as mentioned above or for any other information, please contact

Atul Khara at 972-424-4902 or 972-867-6535 or
email : jainadhyatma@ hotmail. com.
601 W. Parker Rd, # 106 · Plano, TX 75023 ·
Tel : 972-424-4902/972-867-6535 · Fax : 972-424-0680
Email : jainadhyatma@ hotmail. com; Home Page . www. jainadhyatma. org

JAANA would like to thank Dr.Satish & Geeta Shah of Pompano Beach, Florida, for donating $1001 to sponsor this book.

पत्रोंद्वारा
जैनतत्त्व परिचय

- लेखिका -

डॉ. श्रीमती उज्ज्वला दिनेशचंद्र शहा

एम. बी. बी. एस., डी. सी. एच., डी. जी. पी.

- संपादक -

पं. दिनेशभाई शहा

एम. ए. एल. एल. बी.

- प्रकाशक -

वीतरागवाणीप्रकाशक

१५७/९ निर्मला निवास, सायन (पूर्व),
मुंबई - ४०० ०२२.

हिन्दी	चतुर्थ	संस्करण	२५.१२.२००२	२०००
	तीन	संस्करण		६०००
मराठी	चार	संस्करण		९०००
गुजराती	चार	संस्करण		८५००
अंग्रेजी	दो	संस्करण		४०००
			योग	२९५००

© सर्व हक्क लेखिकाधीन

- प्राप्तिस्थान -

१. वीतरागवाणीप्रकाशक

१५७/९ निर्मला निवास, सायन(पू.) मुंबई ४०००२२

टेलि. २४०७३५८१

email - ujwaladinesh@yahoo.com

visit our website: www.jaintattva.com

२. पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए ४ बापूनगर, जयपूर ३०२०१५

टेलि. २७०५५८१, २७०७४५८

मूल्य: रु. १०/-

लेखिका का मनोगत

'जितने व्यक्ति उतनी कल्पनायें' इस लोकोक्ति के अनुसार धर्म के बारे में अनेक लोगों की अनेक प्रकार की कल्पनायें होती हैं। एक दूसरे का सुनकर और बिना किसी शास्त्राधार व्यक्ति धर्म के बारे में, देव के बारे में अपनी राय बिना हिचकिचाहट प्रस्तुत करता रहता है। लौकिक जीवन के प्रत्येक पहलू में तो हम 'विशेषज्ञ' को ही खोजते हैं। जैसे कि शारीरिक स्वास्थ्य के लिए प्रत्येक अंग उपांगों का विशेषज्ञ चाहिए। शिक्षा प्राप्त करने/कराने के लिए भी विशेषज्ञ चाहिए और व्यापार के क्षेत्र में भी हर प्रकार के विशेषज्ञ चाहिए। कोई भी चीज खरीदते वक्त समस्त जानकारी हासिल करके, भरोसे लायक जगह से और पूरी जाँच पड़ताल करके ही खरीदते हैं। लौकिक कार्यों में ऐसा सजग और सावधान व्यक्ति भी जब धर्म के बारे में अंधश्रद्धा से कुछ भी करने या मानने को तैयार होता है, तब बड़ा आश्चर्य होता है।

इसका एक ही कारण है और वह है तत्त्वज्ञान के बारे में अज्ञान! सच्चे देव, गुरु, शास्त्र, वीतराग धर्म इत्यादि के स्वरुप का ज्ञान नहीं होने से कुछ कुल परंपरा से आयी हुअी रुढियाँ, कुछ दूसरों का विपरीत व्यवहार देख-देखकर अंगिकृत की हुअी बातें, कुछ अन्य धर्मियों के संस्कार और कुछ अपने भौतिकवाद को पुष्ट करनेवाली अपनी ही मतिकल्पनाओं के कारण सच्चे धर्म का स्वरुप ही अपने ध्यान में नहीं आता।

हम भी इन्हीं में से ही एक थे। हमारा तो परमसौभाग्य यह रहा कि - सन् १९७२ में कुंभोज - बाहुबली में प. पू. आचार्य समंतभद्र महाराज जी ने हमें स्वाध्याय की प्रेरणा दी। उसके बाद सन १९७५ में पंडित बाबूभाईजी मेहता के नेतृत्व में पूरे भारतभर के सिद्धक्षेत्रों अतिशय क्षेत्रों की १०० दिन की यात्रा में हम सम्मिलित हुअे। उस वक्त लगातार सौ दिन यात्रा और प्रवचनों का अपूर्व लाभ मिला और धर्म के क्षेत्र में हम कितने अनभिज्ञ और पिछड़े हुअे हैं - इसका ज्ञान हुआ। तीन-तीन डिग्रियाँ और उनमें प्राप्त हुअे 'गोल्ड-मेडल्स' के कारण निजबुद्धि के बारे में दुरभिमान तो नहीं कह सकते मगर गर्व (गौरव) तो था ही।

परंतु तत्त्वज्ञान के सामने यह लौकिक शिक्षा कितनी नगण्य है, कितनी तुच्छ है उसका अहसास हुआ। मेरे पति श्री. दिनेशचंद्रजी भी तीन-तीन विषय में ग्रैज्युएट हैं। हम दोनों का स्थिर व्यवसाय और लौकिक निश्चिंतता, रीना-मोना जैसी दो प्यारि व समझदार बेटियाँ - इन सब अनकूलताओं के कारण हमारे जैसे सुखी हम ही हैं, ऐसा लगे तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं था। यह तो सहज मानवीय मनोविज्ञान है।

मात्र तत्त्वज्ञान ही लौकिक अनुकूलताओं से सुखबुद्धि तोड़ सकता है। मेरे ससुरजी श्री. माणिकलाल हरिचंद शहा को शिक्षा के बारे में अपार प्रेम और लगन थी। लौकिक शिक्षा के समान धार्मिक शिक्षा के बारे में भी उन्होंने बारम्बार प्रेरणा दी थी। कभी कभी भिन्न भिन्न प्रवचनकारों का लाभ मिलता रहा और इध बीच में धर्म का अभ्यास भी होता रहा। जैसे-जैसे अधिक अभ्यास होता रहा वैसे-वैसे उसका मर्म भी समझ में आने लगा, सच्चे धर्म का स्वरुप ध्यान में आने लगा, स्वाध्याय की रुचि बढ़ने लगी, हम बारम्बार

शिबिर-प्रवचन अटेंड करने लगे। प्राथमिक ज्ञान के बिना मात्र प्रवचन सुनने से या ग्रंथ का वाचन करने से उसका मर्म ध्यान में नहीं आता यह अपने ही अनुभव से प्रतीत हुआ।

स्वाध्याय हेतु हम दोनों ने अगस्त ९२ से धंदा-पानी व्यवसाय छोड़कर निवृत्ति ले ली। दोनों बेटियाँ भी घर से दूर गयी थी - रीना की तो शादी हुअी थी और मोना मेडिकल के आखरी वर्ष के स्टडी हेतु हॉस्टेलपर रहने गयी थी।

इसी दरम्यान सोलापूर के श्राविकाश्रम की तरफ से ब्र. विद्युल्लता बहनजीने हम दोनों को प्रवचन हेतु सोलापूर आमंत्रित किया। परंतु उस वक्त कुछ कारणवश हम जा नहीं पायें इसलिए मैंने 'श्राविका' पत्रिका के लिए सहज एक पत्ररुप लेख भेज दिया। वह लेख 'श्राविका' में छपकर आया। ब्र. विद्युल्लताजी ने उस लेख की सराहना की और यह उपक्रम चालू रखनेका अनुरोध किया। मैं भी लेख लिखती रही और ब्र. विद्युल्लता जी ने बारम्बार मुझे प्रोत्साहित भी किया।

गत तीन सालों से मैं जैन तत्त्वज्ञान विषयक प्राथमिक जानकारी पत्ररुप से लिखती रही। मेरी यह चेष्टा हास्यास्पद थी, फिर भी अनेकों ने मुझे प्रोत्साहन दिया और प्रशंसा की। जिसतरह छोटा बालक जिंदगी में पहली बार खड़ा रहने की चेष्टा करता है तब हम तालियाँ बजाकर उसे उत्तेजन देते हैं वैसा ही यह प्रसंग रहा।

वाचकों की अनुकूल प्रतिक्रियायें आती ही रहीं ओर इसको पुस्तकाकार रुप देने की माँग भी होने लगी। श्री. अरविंदभाई मोतीलाल दोशी जो रोज शास्त्र स्वाध्याय के लिए श्री. दिनेशजी के पास आते हैं उन्होंने पुस्तक छपवाने के बारे में निरंतर आग्रह रखा। इस अपेक्षा से सब लेखोंपर विशेष दृष्टिकोन से देखा, जहाँ आवश्यक था वहाँ पर अधिक खुलासा करके बीच के पत्र नं. १६ और १७ लेख नये लिखकर भी जोड़े।

पं. ब्र. यशपालजी जैन, जयपूर ने ये समग्र लेख पढ़कर अत्यंत समाधान व्यक्त किया और कुछ महत्त्वपूर्ण सलाह भी दी। एतदर्थ मैं उनकी शतशः आभारी हूँ।

श्री. महावीर पाटील, शास्त्री/संपादक - वीतराग विज्ञान (मराठी) ने भी लेख पढ़कर पत्रशैली की प्रशंसा की और पुस्तक छपाने के लिए प्रोत्साहित भी किया। इन मूल मराठी लेखों को पुस्तकरुप बनाने में मेरे पती श्री. दिनेशचंद्रजी का बहुत बड़ा योगदान रहा। कोई भी काम निश्चितता के साथ पूर्व नियोजनबद्ध विशिष्ट पद्धति के साथ करने की उनकी आदत और कितनी भी प्रतिकूलतायें आनेपर भी हाथ में लिया हुआ कार्य सुचारु रुप से पूर्ण करने की उनकी वृत्ति यहाँ पर बहुत उपयुक्त रही। पुस्तक के संपादन का कार्य भी उन्होंने ही यशस्वी रुप से सम्हाला।

जैन तत्त्वज्ञान का अभ्यास प्रत्येक व्यक्ति को करना ही चाहिए। छोटे-बड़े, जैन-अजैन हर जीव को उससे निश्चित ही 'निजस्वरुप' पहचानने में मदद होती है। 'जैन सिद्धान्त - प्रवेशिका' जैसी प्रश्नोत्तर रुप किताबें विद्यमान हैं ही। उन्ही प्रश्नोत्तरों को बोलचाल की बोली (भाषा) में विस्तृत विवेचन और उदाहरणोंसहित लिखने का प्रयत्न किया है। अनेक बार शास्त्राधार लेकर तत्त्वों में कहीं भूल न हो इस बारे में पूर्ण सावधानी रखी है।

जैन तत्त्वों का प्राथमिक अभ्यास् करनेवालों को यह विश्लेषण उपयुक्त होगा ऐसी मैं आशा रखती हूँ। इन लेखों के निमित्त से मेरा जैन तत्त्वों के विषय में सतत मनन, चिंतन होता रहा, यही मेरे लिए सबसे बड़ा लाभ हुआ ऐसा मैं मानती हूँ।

मराठी पुस्तक विमोचन आदरणीय पं. हुकमचंदजी भारिल्ल के करकमलोंद्वारा १५ अगस्त १९९६ को जयपूर में शिक्षण शिबिर के अवसर पर हुआ था। इस वक्त उन्होंने इसे हिंदी में लिखने को प्रोत्साहित किया। उनकी प्रेरणा से मैंने हिंदी में लिखने का साहस किया।

इन हिंदी लेखों को आदरणीय पं. रतनचंदजी भारिल्ल ने स्वयं देखा, हिंदी भाषा की दृष्टि से सुयोग्य सुझाव भी दिये और समाधान व्यक्त किया। एतदर्थ मैं उनकी शतशः आभारी हूँ।

यद्यपि हमने जैन तत्त्वज्ञान का यत्किंचित् अध्ययन हिंदी और गुजराथी भाषा में किया है, तो भी पुस्तक रुप में लिखना सहज बात नहीं है। मराठी भाषा और साहित्य से भी मेरा अधिक परिचय नहीं है, हिंदी की तो बात ही क्या करनी? फिर भी मूल मराठी में तथा उसी को हिंदी में लिखकर इस विषय को प्रस्तुत करने का मैंने एक छोटा सा यत्न किया है। कितनी सफलता मिली है, इसका निर्णय मैं पाठकोंपर छोड़ती हूँ।

ये सारे पत्ररुप लेख माँ अपनी बेटियों को लिखती है, इसलिए वाचक भी माँ की भाषा को नहीं वरना उसकी भावना को देखेंगे, समझेंगे इसी आशा के साथ, मुझे अपनी माँ जिनवाणी से प्राप्त यह जैनतत्त्व का परिचय मैं अपनी बेटियों एवं समस्त साधर्मियों को दे रही हूँ। आशा है पाठक लाभान्वित होंगे।

- डॉ. श्रीमती उज्ज्वला शहा

संपादकीय

आज यह पुस्तक आपके हाथ में देते हुअे मुझे बहुत आनंद महसूस हो रहा है। चूँकि बीस वर्ष पूर्व जब मैं जैन सिद्धांतों के संपर्क में आया था तब यह वाक्य सुना था कि 'जिसकी होनहार भली हो, उसे वैसे ही उचित निमित्त मिलते हैं'। उस वक्त उसका सही अर्थ समझ में नहीं आया था, पर आज ध्यान में आता है कि जैन तत्त्वज्ञान समझने के अर्थ हमें (मुझे और मेरी धर्मपत्नी श्रीमती उज्ज्वलाजी को) जैन तत्त्वज्ञान समझानेवाले एक से बढ़कर एक उत्कृष्ट विद्वान पंडितों का लाभ मिलता रहा कि जिससे हमें जैन दर्शन की रुचि बढ़ी सो बढ़ी ही।

किन किन लोगों का नाम उद्धृत करें। एक से बढ़कर एक उत्तम व्यक्तिओं का मार्गदर्शन मिला। पं. नेमचंदजी रखियालवाले, पं. कैलासचंदजी बुलंदशहरवाले, पं. थिमणलालजी कामदार ने जैन तत्त्व की नींव डाली। इनकी पढ़ाने की शैली ऐसी जिज्ञासोत्पादक थी कि आगे क्या है? ऐसा प्रश्न सहज खड़ा हो जाता था और जैनदर्शन के बारे में अपनी मान्यतायें कितनी अपरिपक्व हैं यह भी पद-पद पर महसूस होने लगा था। इन तीनों में से किसी को भी पहला नंबर नहीं दे सकते क्योंकि हरेक के अनंत उपकार हैं हम पर! सभी समान ही हैं हमारी दृष्टि से!

इसतरह जैन तत्त्वों की जो पहचान हमें इनसे प्राप्त हुअी, इन्होंने जो तत्त्वरुपी बीज हममें बोये और जो अंकुरित हुअे उसे मुख्यरुपसे पं. क्षेमचंदजी, ब्र. सुशिलाश्री, पं. बाबूभाईजी मेहता ने सींचा और सदोदित आधारस्तंभ और दीपस्तंभ के रुपसे मार्ग दर्शानेवाले आदरणीय पं. हुकमचंदजी भारिल्ल ने उसे वृद्धिंगत किया।

इसतरह जैन दर्शन की महिमा हममें उत्पन्न हुअी। मन ही मन ऐसा लगता रहा कि यह जो खजाना हमें प्राप्त हुआ है वह अन्य जीवों को भी मिले। इसी कारण गत पंद्रह वर्षों से पर्यूषण पर्व निमित्त मुझे जहाँ जहाँ प्रवचनार्थ जाने का प्रसंग बना, वहाँ वहाँ जैन सिद्धांतों की पहचान हो - इस हेतु "लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका" के माध्यम से मैं पर्यूषण पर्व में भी दिनमें ३ बार इसी विषय को नियमित रुपसे सिखाता रहा। प्रथम शुरु शुरु में थोड़ी बहुत नाराजी रहती थी मगर विरोध नहीं था और एक दो दिनमें ही श्रोतावर्ग में विषय को समझने की खूब उत्सुकता जागृत होती थी।

आप यह विश्लेषण क्यों नहीं लिखते, उसे पुस्तकाकार क्यों नहीं बनाते ऐसी सलाह अनेक लोगों ने दी। लेकिन आज तक वह काम मुझसे नहीं बना। परंतु दैवयोग से श्रीमती उज्ज्वलाजी के मन में क्या विचार जागृत हुअे भगवान जाने, उसने इस विषय को लेकर 'श्राविका' पत्रिका में पत्ररुप लेख लिखने की शुरुवात की। जैसा जैसा विषय आगे बढ़ता गया वैसे वैसे वाचकों का प्रतिसाद भी बढ़ता गया। अनेक लोगों ने 'आप इसे पुस्तकरुप से छपाये तो नये नये जिज्ञासुओं को यह बहुत कार्यकारी सिद्ध होगा' इसतरह की माँग की। और जो काम आज तक मुझसे नहीं हो पाया था, मैं कर नहीं सकता था और जो करनेवाला भी नहीं था वह उससे सहजरुप से बनता गया यह देखकर हम दोनों ने इसे पुस्तकरुप से छापने की ठान ली।

अनेक लोगों की ऐसी मान्यता है कि धर्म तो बुढ़ापे में करने की चीज़ है। लेकिन उन्हें यह मालूम नहीं है कि धर्म यह एक सायन्टिफिक विषय है, इतना न्यायपूर्ण और लोजिकल विषय है, इतना परफेक्ट है कि वह भी एक अभ्यास का विषय हो सकता है। लौकिक जीवन में हम अनेकविध कोर्सेस करने में आगे-पीछे नहीं देखते, सब कोर्सेस करने की चाह रखते हैं। छोटा १०-१२ वर्ष का बालक कॉम्प्युटर सीखे तो हम उसकी सराहना करते हैं लेकिन १०-१२ वर्ष का बालक शास्त्राभ्यास करे तो अनेकों की भौंयें टेढ़ी होती हैं। चूँकि एक वर्तमान भव के कल्याण के लिए हम अनेक विषयों का अध्ययन करते हैं तो अनेक भवों के कल्याण के लिए तत्त्वज्ञान का और शास्त्रोंका अध्ययन करने में क्या बाधा है? हमें चाहिए कि सर्वप्रथम यह विषय क्या है उसके बारे में समझें, उसकी जानकारी प्राप्त करें और फिर उसके बारे में अपनी राय बना लें। परंतु इस विषय को जाने बिना या समझे बिना उसके बारे में राय बना लेना ठीक बात नहीं है। यह विषय समझ में आये इस हेतु उसकी प्राथमिक जानकारी इस पुस्तक के माध्यम से देने का प्रयत्न लेखिका ने किया है। इसमें विषय को सरल और सीधी भाषा में प्रस्तुत किया है और तात्त्विक शब्द समझाने के लिए बोलीभाषा का उपयोग बड़ी खूबी से किया है। इसीलिए पत्ररुप शैली में लिखकर मानो वाचकों से निकटता प्राप्त करने का लेखिका का प्रयास रहा है।

वास्तव में मराठी में एक हजार प्रतियाँ छपवाई थी। वह कब तक संभालनी पड़ेगी ऐसा डर था, लेकिन देखते देखते डेढ़ महिने में ही सारी प्रतियाँ खत्म हुअी। और अनेक लोगोंने - जैन, ब्राम्हण, लिंगायत, मुस्लिम बंधुओ ने इसे पढ़ा और हमसे सैद्धान्तिक चर्चा भी की। तब ऐसा मन में आया कि क्यों न इसे हिंदी में लिखकर छपवाअें ? भारिल्लबंधु याने के पं. डॉ. हुकमचंदजी और पं. रतनचंदजीने हमें शुरु से ही 'इसका हिंदी अनुवाद अवश्य करना' ऐसा प्रोत्साहन दिया ही था। इसलिए यह हिन्दी संस्करण आपके सामने आ रहा है। इसमें साहित्यिक भाषा का प्रयोग न करके रोज की बोलीभाषा का प्रयोग करने का प्रयास किया है।

- पं. दिनेशभाई शहा

प्रकाशकीय

इस पुस्तक के मराठी चार संस्करण, गुजराती के भी चार संस्करण एवं अंग्रेजी में दो संस्करण छप चुके हैं। हिन्दी भाषा में यह चतुर्थ संस्करण छपवाने में हमें अत्यंत हर्ष हो रहा है।

हम स्वयं को गौरवान्वित अनुभव कर रहे हैं क्योंकि इस कृति संबंधी देश विदेश के लोगों की मांग बढ़ रही है जिससे यह जाहिर होता है कि जैन तत्त्वज्ञान प्रत्येक जीव को अत्यंत आकर्षित करता है। क्योंकि इसमें जीव के अपने कल्याण की ही बात है।

- वीतरागवाणीप्रकाशक

अनुक्रमणिका

	विषय	पृष्ठ क्रमांक
१.	तत्त्व-प्रवेश	१
२.	सच्चे देव का स्वरुप	५
३.	तत्त्वाभ्यास की महिमा	१०
४.	जैन शास्त्रों का अर्थ करने की पद्धति	१५
५.	विश्व का स्वरुप	२१
६.	द्रव्य का स्वरुप	२७
७.	गुण का स्वरुप	३३
८.	पर्याय का स्वरुप	३८
९.	'पुद्गल' द्रव्य का स्वरुप	४३
१०.	अस्तित्व गुण	४७
११.	वस्तुत्व गुण	५२
१२.	द्रव्यत्व गुण	५७
१३.	प्रमेयत्व गुण	६२
१४.	अगुरुलघुत्व गुण	६९
१५.	प्रदेशत्व गुण	७५
१६.	पुद्गल के विशेष गुण और पर्यायें	८१
१७.	जीव के विशेष गुण और पर्यायें	८५
१८.	जीव का चारित्र गुण और पर्यायें	९१
१९.	प्रयोजनभूत तत्त्व	९६
२०.	सात तत्त्वों का स्वरुप (भाग १)	१०१
२१.	सात तत्त्वों का स्वरुप (भाग २)	१०५
२२.	सात तत्त्वसंबंधी विपरीत मान्यता (भाग १)	१०९
२३.	सात तत्त्वसंबंधी विपरीत मान्यता (भाग २)	११४
२४.	सात तत्त्व का यथार्थ श्रद्धान (भाग १)	११९
२५.	सात तत्त्व का यथार्थ श्रद्धान (भाग २)	१२४
२६.	सात तत्त्व - भेदविज्ञान	१२९
२७.	सात तत्त्व - आत्मानुभूति	१३४

पत्रांक १ ११ मई १९९३

तत्त्व-प्रवेश

डॉ. (सौ.) उज्ज्वला दिनेशचंद्र शहा,
१५७/९ निर्मला निवास,
सायन (ईस्ट) मुंबई - २२.

प्रिय रीना एवं मोना,

अनेक उत्तम शुभाशीर्वाद।

तुम दोनों - एक शादी करके और एक पढ़ाई के लिए हमें छोड़कर चली गयी हो। मोना तुम्हारे हॉस्टेल में जाने के बाद शुरु शुरु में तुम्हारे खानपान के बारे में, घर छोड़कर तुम्हें अकेला रहना पड़ेगा इस बारे में, तुम वहाँ कैसे ॲडजस्ट हो सकोगी इस बारे में मुझे अनेक विकल्प आते थे। अब वह चिंता नहीं रही। आज कल हमेशा यही एक विकल्प आता है कि अब तुम दोनों सच्चे अर्थ में समाज के संपर्क में रहती हो जहाँ अनेक धर्मों के - अनेक मतों के लोगों से तुम्हारा संबंध आयेगा। उनकी मान्यतायें, उनकी श्रद्धा और अंधश्रद्धा आदि का तुमपर प्रभाव पड़ने की संभावना है। ऐसे प्रसंग में सनातन सत्य धर्म क्या है? यह तुम्हें बताने की आवश्यकता भासित होती है। घर के संस्कार, थोड़ा बहुत तत्त्वश्रवण का लाभ तुम्हें बचपन से ही है। इस वजह से 'अपना धर्म, अपने देव, अपना कुलाचार' ऐसा समझकर वे बातें तुम्हें आदरणीय व उत्तम लगती होगी लेकिन अब वही बातें सचमुच योग्य हैं या नहीं, तत्त्व न्याययुक्त हैं या नहीं आदि की परीक्षापूर्वक प्रतीति करनी चाहिए।

तुम दोनों के निमित्त से यह लिखना प्रारंभ किया है। जो ज्ञानधन हमने उपार्जित किया हुआ है और कर रहे हैं वह तुम्हें और तुम जैसे अन्य जिज्ञासुओं को मिले यही मेरी कामना है।

सबसे पहले 'ईश्वर' अथवा 'भगवान' का स्वरुप समझना पड़ेगा। यह कोई "Superhuman Power" है या कोई मानवसदृश प्राणी है? यह समझने के लिए कुछ मुलभूत बातें हमें समझनी होगी। इसके लिए सर्वप्रथम आत्मा क्या चीज़ है यह समझेंगे।

आत्मा – तुम, मैं और अन्य सब जीव जो जानने का कार्य करते हैं, सुखदुःख का अनुभव करते हैं, योग्य-अयोग्य का निर्णय करते हैं, मुझे यह नहीं समझता अथवा समझता हैं - ऐसा जो जानते हैं, वह जाननेवाला ही आत्मा है।

इस आत्मा का शरीर के साथ जो संबंध अथवा संयोग होता है इस संयोग को हम 'सजीव' प्राणी कहते हैं। देखो, प्राणीशास्त्रज्ञ भी उसे सजीव कहते हैं, जीव

नहीं कहते। जो जीव सहित है वह सजीव है। आत्मा चेतन है, जीव है और शरीर अचेतन है, जड़ है। शरीर में ज्ञान नहीं है, शरीर सुखदुःख का अनुभव नहीं कर सकता। यह संबंध कुछ निश्चित काल तक रहता है। यह संबंध खत्म होता है उसे हम मरण कहते हैं। देखो, संबंध खत्म हुआ है, न जीव का अंत हुआ और न अचेतन का याने शरीर के परमाणुओं का। मरण के उपरांत इस जीव का अन्य शरीर के साथ संबंध होता है उसे जन्म कहते हैं। जन्म से लेकर मरण तक जीवन अथवा आयु है, उसे भव कहते हैं। मनुष्य की अपेक्षा हम इसे 'मनुष्यभव' अथवा 'मनुष्यपर्याय' कहते हैं। पर्याय याने अवस्था। यह सचमुच जीव की अवस्था नहीं है मगर 'जीव + शरीर' के संयोग की अवस्था है। यह जो **संयुग** (मिश्रण) तैयार हुआ उसके गुणधर्म 'शुद्ध जीव' द्रव्य से भिन्न हैं। इसमें जो 'जीव' है वह तो जाननेवाला - माननेवाला तद्वत प्रतीति करनेवाला है। यह जीव अपने भिन्न अस्तित्व और भिन्न गुणधर्म को न पहिचानकर **संयुग** के अस्तित्व को अपना अस्तित्व मानता है और उसके गुणधर्मों को अपने गुणधर्म मानता है। ध्यान से देखो, वह मानता है इसलिए वैसा होता है, ऐसी बात नहीं है परंतु उसकी गलत (विपरीत) मान्यता के अनुसार उसका जानना भी विपरीत होता है और आचरण भी विपरीत होता है; इसीको शास्त्र में मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र कहा है। उसके कारण सूक्ष्म कर्म परमाणु आकर आत्मा के साथ बंधते हैं। कर्म का यह Process या Theory भविष्य में समझाऊंगी।

अज्ञानी जीव ने जीव और शरीर की संयोगी अवस्था को 'स्व' माना, इसलिए दृश्यमान शरीर ही 'मैं' हूँ ऐसी मिथ्या कल्पना इस जीव की जन्म से ही रहती है। शरीर गोरा, लंबा, दुबला तो मैं गोरा, लंबा, दुबला; शरीर रोगी तो मैं रोगी, शरीर का संयोग होनेपर मैं जन्मा और वियोग में मैं मरा, शरीर के अनुकूल सामग्री में मैं सुखी ऐसी अनेकविध मिथ्या कल्पनाओं के कारण यह जीव तथाकथित सुख-सामग्री प्राप्त करने के लिए मेहनत करता है। एतदर्थ पैसा कमाने के लिए यह जीव दिनरात कष्ट उठाता है।

तुम विज्ञान की विद्यार्थिनी हो इसलिए केमिस्ट्री/रसायन विज्ञान का उदाहरण देती हूँ। विज्ञान के विद्यार्थियों को तत्त्वज्ञान का यह विषय सहजता से-आसानी से समझ में आ सकता है। जैन धर्म का अर्थ है 'वस्तुस्वरुप' अथवा 'वस्तुविज्ञान'। फिजिक्स में - भौतिक विज्ञान में हम केवल Matter (पदार्थ) का अभ्यास करते हैं परंतु जैनदर्शन में Matter यह छह द्रव्यों में से एक द्रव्य है। इन छह द्रव्यों में जीव यह एक द्रव्य है। जैन तत्त्वज्ञान में इन छह द्रव्यों का स्वरुप तो बताया ही है, मुख्यतः जीव द्रव्य का स्वरुप विस्तार से समझाकर अपने शुद्ध जीव स्वरुप का अनुभव कैसे करना इसका कथन किया है। मैं स्वतः जीवद्रव्य हूँ इसलिए 'मेरा' स्वरुप क्या है यह जानने की तीव्र अभिलाषा स्वाभाविक ही है। बचपन में खोये हुअे, अनाथाश्रम में रहनेवाले बालक को अपने माँ - बाप मिलने पर जैसा आनंद होता है वैसा आनंद और उत्साह 'स्व' का स्वरुप सुनने और पढ़ने से होता है। हाँ, तो मैं उदाहरण बता रही थी। जिसप्रकार H_2O अर्थात् पानी के मूलतत्व हायड्रोजन

और ऑक्सिजन हैं। हायड्रोजन एवं ऑक्सिजन का मिश्रण ही पानी है। इसमें 'O' अर्थात ऑक्सिजन के गुणधर्म H_2O अर्थात् पानी के गुणधर्मों से भिन्न हैं। हमें यदि ऑक्सिजन के गुणधर्म जानने हो और यदि उसे H_2O में से भिन्न करना हो तो सबसे प्रथम वह भिन्न गुणधर्मवाला है और उसे भिन्न किया जा सकता है, इसकी पूर्ण श्रद्धा होना जरुरी है। केमिस्ट्री के अध्यापकों से उसे सीखना पड़ेगा। शुद्ध ऑक्सिजन प्राप्त करने के लिए कौनसी प्रक्रिया करनी पड़ती है इसका अभ्यास करना पड़ेगा और उनके मार्गदर्शन से तद्वत् प्रात्यक्षिक करने पर शुद्ध ऑक्सिजन प्राप्त करना सहज साध्य है।

उसीतरह जीव + शरीर इस संयुग में से जीव द्रव्य के गुणधर्म उस संयुग के गुणधर्मों से भिन्न हैं। इस संयुग में से शुद्ध जीव भिन्न हो सकता है। जो जीव पूर्ण शुद्ध हो गये हैं उनके मार्गदर्शन के अनुसार प्रथम शुद्ध जीव पदार्थ के गुणधर्मों का याने स्वभाव का अभ्यास, ज्ञान करना होगा, शुद्ध जीव भिन्न कर सकते है ऐसी श्रद्धा करनी होगी और वैसा प्रात्यक्षिक करके अपने शुद्ध जीव का अनुभव करना होगा। यह जीव को स्वयं करना होगा, अन्य जीव इसे शुद्ध नहीं कर सकते। जब यह अनुभव - प्रतीति होगी तब इसे सम्यक्त्व हुआ याने सम्यक्दर्शन (यथार्थ श्रद्धा), सम्यक्ज्ञान (यथार्थ ज्ञान) और सम्यक्चारित्र (यथार्थ आचरण) हुआ ऐसा कहा जायेगा। ऐसा जीव अपने आप को सदैव शरीर से भिन्न जानता-अनुभवता है और अपनी आत्मा में ही स्थिर होने का बारंबार प्रयत्न करता है। आत्मस्थिरता बढ़ती जाती है तब व्रतीश्रावक और मुनि ये अवस्थायें प्राप्त होती हैं।

ऊपर की यह अवस्था 'शुद्ध + अशुद्ध' अवस्था है। शुद्ध जीव की (स्व की) पूर्ण श्रद्धा और प्रतीति तो इस जीव को हो गयी है, मगर अब भी वह संयुग की अवस्था में हैं। यद्यपि सगाई होने पर लड़की मायके में ही रहती है, परंतु अब मायके के घर में 'यह मेरा घर' ऐसी अपनेपन की पहले जैसी भावना नहीं रही अथवा जैसे कोई व्यक्ति भाड़े के मकान में रहता है उस मकान में रहते हुअे भी इसे उसमें अपनेपन की भावना नहीं रहती। वैसे भेदज्ञान होने पर शरीर के रहते हुये भी ज्ञानी जीव को शरीर के साथ अपनापन या एकत्वबुद्धि नहीं रहती।

आत्मा में अधिकाधिक लीनता और स्थिरता करते-करते ऐसी अवस्था होती है कि आठ कर्मों में से ४ कर्मों का पूर्ण अभाव होता है। पूर्ण शुद्ध आत्मा का अनुभव सतत रहता है। ज्ञानका पूर्ण विकास होता है उन्हें 'सर्वज्ञ' कहते हैं। कषायों का पूर्ण अभाव होने पर उन्हें 'वीतराग' कहते हैं। ऐसे वीतरागी सर्वज्ञ जीव के अभी ४ कर्म शेष हैं, अभी शरीर से संबंध है इनको अरहंत कहते हैं। वे हितोपदेश देते हैं अर्थात् जिस विधि से, जिस मार्ग से आत्मानुभवपूर्वक मुनि बनकर वे अरहंत अर्थात् देव हुअे, उस मोक्षमार्ग का उपदेश देते हैं। अरहंत के सर्व आत्मिक गुणों का पूर्ण विकास हो चुका है, अर्थात् पूर्ण शुद्ध अवस्थायें प्रकट हो गयी हैं।

ईश्वर क्या है इस प्रश्न से हमने प्रारंभ किया था। अरिहंत शरीरसहित ईश्वर या परमात्मा है। इसलिए उन्हें सकल परमात्मा कहते हैं। अरिहंत अवस्था के बाद इस जीव को सिद्ध अवस्था प्राप्त होती है। वहाँ शरीर का और शेष ४ कर्मों का संबंध भी सदा के लिए नष्ट होता है - इस जीव को 'निकल परमात्मा' कहते हैं। शुद्ध जीव पूर्ण शुद्ध अवस्था को प्राप्त हुआ है। अब इसे कोई संयोग नहीं रहा - जीव मुक्त हो गया। अब दुबारा उसे जन्म नहीं लेना पड़ेगा, जन्म मरण से रहित सिद्ध दशा अनंत काल तक चलती रहेगी।

इसतरह अरिहंत और सिद्ध - इन दो अवस्थाओं में जो जीव हैं उन्हें सच्चा देव या परमात्मा कहते हैं।

देवगति, मनुष्यगति, तिर्यंचगति और नरकगति इन चारों गतियों में जीव सम्यक्दर्शन तो प्राप्त कर सकता है परंतु मात्र मनुष्यगति में पुरुष ही मुनि बनकर अरहंत और सिद्ध बन सकते हैं। उसके बाद उन्हें फिर दूसरा भव धारण नहीं करना पड़ता, फिर से उनका अवतार (जन्म) नहीं होता।

ईश्वर क्या है? यह समझने के पश्चात् उसका स्वरुप क्या है यह हम आगे समझेंगे।

तुम्हारे कोई प्रश्न हो तो अवश्य पूछना लेकिन विषयानुरुप उसका जबाब मैं आगे-पीछे जरुर दूँगी।

शेष शुभ।

तुम्हारी माँ

★ ★

वीतराग मार्ग वह है कि जिसमें प्रभु सर्वज्ञ हैं। वीतराग मार्ग वह है कि जिसमें जीव अजीव के भेद बताये हैं। वीतराग मार्ग वह है कि जिसमें निर्ग्रंथ महामुनि प्रवर्तन करते हैं। वीतराग मार्ग वह है कि जिसमें आत्मस्वरुप के दर्शन द्वारा महासुख की प्राप्ति होती है। वीतराग मार्ग वह है कि जिस के शास्त्रों में पूर्वापर अविरोधपना है। वीतराग मार्ग वह है कि जिस के आदि मध्य और अंत में एक आत्मा ही का लक्ष है। वीतराग मार्ग वह है कि जिसमें जीवदया रुप धर्म है। वीतराग मार्ग वह है जिससे कर्म क्षय करके सिद्ध पद प्राप्त होता है।

- भैय्या भगवतीदासजी 'ब्रम्हविलास'

★ ★

पत्रांक २ १५ जून १९९३

सच्चे देव का स्वरुप

प्रिय रीना एवं मोना,

अनेक उत्तम शुभाशीर्वाद।

तुम्हारी जिज्ञासा के अनुसार गत पत्र में हमने 'आत्मा' क्या है ' यह समझाने का प्रयत्न किया और प्रत्येक जीव अपनी आत्मा के शुद्ध स्वभाव की श्रद्धा, उसका ज्ञान एवं उसमें लीनता (स्थिरता अर्थात् आचरण - रमणता) करके स्वयं परमात्मा बन सकता है यह भी बताने का प्रयत्न किया।

इस परमात्मा का स्वरुप विस्तार से जानना जरुरी है। जिसे हम परमात्मा, भगवान, ईश्वर, परमेश्वर, सच्चा देव, देवाधिदेव आदि नामों से कहते हैं। वैसे देवगति के जीवों को भी देव कहते हैं , मगर वह अर्थ यहाँ अभिप्रेत नहीं है।

हमें अपने शुद्धात्मस्वरुप को जानने के लिए जिन्होंने शुद्धात्म स्वरुप प्रगट किया है, ऐसे वीतरागी और सर्वज्ञ ही हमें अभीष्ट हैं। उन सच्चे देव को जानना अति आवश्यक है। ऐसी वीतरागता कुछ अंशों में प्रगट करनेवाले दिगंबर जैन मुनि का स्वरुप एवं शुद्ध स्वरुप के प्रतिपादक तथा मोक्षमार्ग के निरुपक सत्शास्त्र को जानना भी अति आवश्यक है।

'रत्नकरंड श्रावकाचार' नामक ग्रंथ में शुरु में ही श्लोक है कि सत्यार्थ आप्त (अरहंत भगवान), आगम (जिनेन्द्रकथित उपदेश) एवं तपोभृत (दिगंबर जैन मुनि) को यथार्थ जानना सम्यक्दर्शन का कारण है।

इस सम्यक्दर्शन से ही धर्म की शुरुवात होती है। श्रद्धा यथार्थ होगी तो ही ज्ञान और आचरण यथार्थ होगा। सम्यग्दर्शन के बिना किये हुअे व्रत, तप, संयम को शास्त्र में 'अंक बिना बिंदी' कहा हैं। अगर हम एक के बाद एक शून्य लिखते गये परंतु उसके पहले कोई अंक न लिखें तो उसकी कीमत शून्य ही होगी। मूल में ही भूल होगी तो आगे का सब गलत ही होगा ना?

मैं आत्मा हूँ। अगर मुझे अपने स्वभाव को अर्थात् शुद्धात्म स्वरुप को जानना है तो पहले परमात्मा को जानना पड़ेगा। यदि सच्चे देव का स्वरुप जानने में ही भूल होगी तो शुद्धात्मा का स्वरुप जानने में भी भूल होगी ही। भगवान का यथार्थ स्वरुप न जानते हुये उनका स्मरण, चिंतन, पूजन, भक्ति करने से कोई लाभ नहीं।

जिसप्रकार हम छोटे बालक को दर्पण के सामने ले जाकर उसे यह सिखाते हैं कि 'देख, यह तू है'। उसका फोटो बताकर भी ऐसा सिखाते हैं कि 'यह तू है'।

उसीप्रकार भगवान के सामने जाकर ऐसा विचार करना चाहिए कि यह मेरे शुद्ध आत्मा का प्रगट रुप अर्थात् प्रतिबिंब है।

देखो, णमोकार महामंत्र में अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु को नमस्कार किया गया है, किसी व्यक्ति विशेष को नहीं। अरहंत व सिद्ध ये देव हैं। देव का लक्षण क्या है? यह जानना अत्यंत आवश्यक है। जिसतरह सोने को कसौटी पत्थर पर कसकर सोना परखा जाता है, उसीतरह देव की परीक्षा की कसौटी पूर्ण वीतरागता और सर्वज्ञता है। अरहंत वीतरागी, सर्वज्ञ और हितोपदेशी हैं। सिद्ध भगवान वीतरागी और सर्वज्ञ हैं।

वीतरागी अर्थात् 'बीत गया है राग जिनका'। तीव्र द्वेष और तीव्र राग का अभाव होते-होते अति मंद राग बाकी रहता है तथा उसका भी अभाव करके जीव पूर्ण वीतरागी होता है। उस जीव को 'वीतरागी' कहते हैं। राग-द्वेष का दूसरा नाम कषाय है। चार शब्दों में कहना हो तो क्रोध, मान, माया और लोभ।

जैसे - जैसे कषायों का अभाव होता जाता है वैसी - वैसी वीतरागता बढ़ती जाती है। सम्यक्दर्शन होते ही वीतरागता की शुरुवात होती है, क्योंकि वहाँ (अनंतानुबंधी) क्रोध - मान - माया - लोभ - चारों कषायों का अभाव होता है। आत्मा का स्वरुप देखने पर उसमें अरहंत सिद्ध के समान ही अनंत गुण हैं, जैसे ज्ञान, दर्शन, श्रद्धा, चारित्र, सुख, वीर्य इत्यादि। जब इन सब गुणों की आंशिक शुद्धता प्रगट होती है, तब जीव साधक कहलाता है। और जब पूर्ण शुद्ध अवस्था प्रगट होती है तब वही जीव भगवान - परमेश्वर कहलाता है।

वीतरागता चारित्र गुणकी शुद्ध अवस्था है। कषाय चारित्र गुण की अशुद्ध अवस्था है। शुभभाव और अशुभभाव चारित्र गुण की अशुद्ध अवस्था के ही दो भेद हैं। इसे निम्नांकित चार्ट से इस प्रकार समझ सकते हैं -

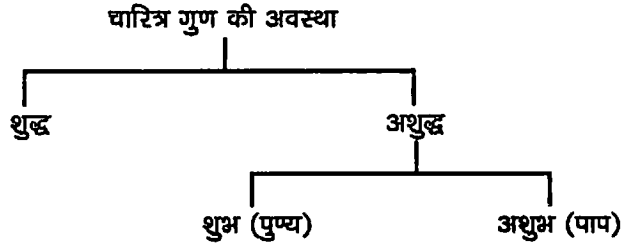

जैनदर्शन के अलावा दूसरे किसी भी अन्य दर्शनों में इस शुद्ध अवस्था का वर्णन नहीं है और उसके प्राप्ति का मार्ग भी नहीं है।

सम्यक्दर्शन (श्रद्धा गुण की शुद्ध अवस्था), सम्यग्ज्ञान (ज्ञान गुण की शुद्ध अवस्था अर्थात् अतींद्रिय ज्ञान) और सम्यक्चारित्र (चारित्र गुण की आंशिक शुद्धता याने आंशिक वीतरागता) एक साथ होती है। उस समय कषाय के एक चौकड़ी का

याने अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ का अभाव होता है। गृहस्थावस्था में यह कार्य होता है।

अधिक आत्मस्थिरता के कारण वीतरागता बढ़नेपर व्रत ग्रहण करने के रागरूप परिणाम होते हैं तब उन्हें व्रती श्रावक कहते हैं (दो कषाय चौकड़ी का अभाव)। गृहस्थ अवस्था त्यागकर मुनिव्रत अंगिकार करने पर जब वीतरागता और भी वृद्धिंगत होती है और तीन कषाय चौकड़ी का अभाव होता है तब उन्हें मुनि कहते हैं।

ऐसे मुनि अंतरंग में ही लीन रहते हैं तब पूर्ण वीतरागी बनते हैं, कषायों का अंश भी नहीं रहता। पूर्ण वीतरागता के पश्चात् वे सर्वज्ञ बनते हैं। अर्थात् उनका ज्ञान पूर्ण विकसित होकर 'केवलज्ञान' कहलाता है। ऐसे वीतरागी और सर्वज्ञ अवस्था को अरहंत कहते हैं। शरीर का सद्भाव होने पर भी वे आत्मा में ही पूर्ण लीन रहते हैं। अरहंत की ॐ कार रुप दिव्यध्वनि खिरती है, वह बिना इच्छा के ही खिरती है। उसमें मोक्षमार्ग का उपदेश होता है इसलिए उन्हें हितोपदेशी कहते हैं। वे जन्म, मरण, क्षुधा, तृष्णा, रोग, जरा (वृद्धत्व), भय, गर्व, राग, द्वेष, मोह, चिंता, रति, निद्रा, विस्मय, विषाद, खेद, और स्वेद इन अठारह दोषों से रहित होते हैं। हितोपदेशी होने से अरहंत को आप्त कहते हैं। जिसके पास शस्त्र, अस्त्र, वस्त्र, माला, अलंकार, स्त्री, इत्यादि हैं, वे तो भगवान हो ही नहीं सकते क्योंकि वीतरागी भगवान को राग-द्वेष, इच्छा, भक्तों का रक्षण या शत्रु का संहार करने के भाव ही नहीं होते। हमें अपना निजकल्याण करना है अतः प्रथम 'स्व' कौन है? यह पहचानना आवश्यक है। तथा 'स्व' का पूर्ण शुद्ध स्वरुप मात्र सच्चे देव को जानने से ही ख्याल में आता है। जिसप्रकार किसी ने इमली दिखायी तो मुँह में पानी आता है, माता-पिता की याद आनेपर आँखों में आँसू आते हैं, दादा-दादी का फोटो देखनेपर उन्होंने किये हुअे लाड़-प्यार की याद आती है। उसीप्रकार अरहंत - सिद्ध का स्मरण होते ही अंतरंग में वीतरागता और सर्वज्ञता का ज्ञान होता है। जिसे ऐसा नहीं होता, उसने भगवान का स्वरुप (वीतरागी और सर्वज्ञ) जाना ही नहीं।

भगवान के सामने मात्र हाथ जोड़ना, नमस्कार करना, जप करना भक्ति नहीं है। किंतु उनके गुणों के प्रति अनुराग / महिमा आना, आदर भासित होना ही सच्ची भक्ति है। यदि उनके गुणों के बारे में जानकारी ही नहीं होगी तो गुणों के प्रति आदर महसूस भी कैसे होगा ?

हम कषायों से ही परिचित हैं; क्योंकि रोज कषाय ही तो करते हैं। परंतु वीतरागता का अनुभव अभी तक हमें न होने से वीतरागता की महिमा हमें भासित नहीं होती। इसी वजह से जिन्हें आंशिक वीतरागता प्रगट हुअी है, ऐसे ज्ञानियों के ही भगवान के प्रति सच्ची भक्ति होती है। कषायों को दबाने से वीतरागता उत्पन्न नहीं होती परंतु वीतरागता प्रगट होने पर कषायों की उत्पत्ति ही नहीं होती; इस उत्पन्न न होने को ही नाश हुआ कहते हैं।

अब तक हमने यह देखा कि सम्यग्दर्शनपूर्वक मुनिपना और मुनिपनापूर्वक देवपना होता है। जब मुनि को ही सम्पूर्ण परिग्रह आदि पापों का अभाव है, उनके द्वारा अहिंसादि महाव्रतों का पालन होता है, मुख्यतः वे ज्ञान और ध्यान में ही लीन रहते हैं, तो उनसे भी श्रेष्ठ अरहंत पद के धारक भगवान तो उनसे भी श्रेष्ठ होना ही चाहिए। अरहंतों को परिग्रह (अस्त्र, वस्त्र, शस्त्र, धन, धान्य, दास, दासी, अलंकार इत्यादि) कैसे हो सकते हैं? कभी नहीं हो सकते। अतः उनके प्रतिबिम्ब भी वीतरागता के सूचक ही होना चाहिए।

सर्वज्ञ की संक्षिप्त व्याख्या इसप्रकार है : 'ज्ञ' अर्थात् To know = जानना। जो सब को जानते हैं वे सर्वज्ञ हैं। सर्व अर्थात् विश्व में जीवद्रव्य, पुद्गलद्रव्य, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और कालद्रव्य ये छह द्रव्य हैं। इनकी संख्या तुम जानती ही हो। जीव अनंत, पुद्गल अनंतानंत, धर्म अधर्म आकाश एक - एक और काल द्रव्य असंख्यात हैं। इन सब द्रव्यों को, प्रत्येक द्रव्य के अनंत गुणों को, प्रत्येक गुण की भूतकालीन, वर्तमानकालीन और भविष्यकालीन सभी पर्यायों को, प्रत्येक पर्याय के अविभाग प्रतिच्छेदों को (पर्याय शक्ति को मापनेवाला यह शक्ति का सबसे छोटा अंश है) एक समय में युगपत् प्रत्यक्ष जानने का सामर्थ्य केवलज्ञान में है। ऐसा अनंतज्ञान जिन्हें प्रगट हुआ है, उन्हें सर्वज्ञ कहते हैं। यह केवलज्ञान अतींद्रिय है। जब आत्मा आत्मा में ही लीन होकर अपने को पूर्ण रुपसे जानता है, उसीमें स्थिर हो जाता है तब अन्तर्मुहूर्त में ही केवलज्ञान प्रगट हो जाता है जिसमें विश्व के सर्व पदार्थ सहजरुप से झलकने लगते हैं। फिर भूत वर्तमान या भविष्य काल की भी उसमें बाधा नहीं आती।

तत्त्वाभ्यास की महिमा के बारे में हम अगले पत्र में समझेंगे। वीतरागता और सर्वज्ञता शब्दों का अर्थ समझ में आने पर भगवान का स्वरुप ख्याल में आने में देर नहीं लगेगी।

तुम्हें देव-स्तुति याद होगी - उसमें भी सर्वज्ञ और वीतरागी का वर्णन इसप्रकार है -

१. सकल ज्ञेय-ज्ञायक = सर्वज्ञ
   तदपि निजानंद रसलीन = वीतरागी,

२. जिसने राग-द्वेष कामादिक जीते = वीतरागी
   सब जग जान लिया = सर्वज्ञ

सब जीवों को मोक्षमार्ग का निस्पृह हो उपदेश दिया = हितोपदेशी.

पूर्ण वीतरागता प्रगट होनेपर ही सर्वज्ञता प्रगट होती है। देखो, यह कितना सहज सुंदर नैसर्गिक नियम है। अगर किसी रागी-द्वेषी जीव को सर्वज्ञता प्राप्त हो

जाती तो कितना अनर्थ होगा इसका विचार भी नहीं कर सकते। आज जगत में अधिक बुद्धि का उपयोग भी व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए और दूसरों के संहार के लिए हो रहा है यह हम पद पद पर देखते ही हैं।

आज हमने सच्चे देव का स्वरुप निश्चित किया कि जो वीतरागी और सर्वज्ञ हैं वे ही सच्चे देव हैं। अन्य किसी को भी देवपना अर्थात् ईश्वरपना संभवता नहीं। सरागी देवताओं को कुदेव कहा गया है क्योंकि उनको पूजने से राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है और उनके उपदेश से मिथ्यात्व का पोषण होता है। कुछ लोग अदेव को भी देव मानते हैं उसे देवमूढता कहा गया है। जैसे पत्थर, नदी, धन (लक्ष्मी), नाग, गाय आदि को पूजना।

कुदेवों को और अदेवों को देव मानना, उनके प्रति पूज्यत्व का या प्रशंसा का भाव आना इसमें मिथ्यात्व का - अतत्त्वश्रद्धान का दोष (पाप) लगता ही है; परंतु जो लोग वीतरागी सर्वज्ञ को ही देव मानते हैं किंतु उनका स्वरुप विपरीत मानते हैं उनको भी वह दोष लगता है। जैसे, वीतरागी देव से मन्नत माँगना, उनके सामने पैसा, पुत्र, यश आदि की माँग करना या इच्छा करनी, रोग ठीक हो जाये इसलिए पूजा - विधान करना यह भी मूर्खता का और अज्ञानता का ही प्रतीक है। हाँ, ज्ञानी भी संकट के समय में ईश्वर की भक्ति - पूजा करते हैं परंतु संकट से देव मुझे बचायेंगे इस भावना से नहीं अपितु अपना चित्त वीतरागता के प्रति लगे और अशुभ परिणामों से बचे इतने मात्र के लिए करते हैं।

भगवान को कर्ता-हर्ता मानना, इच्छावाला मानना, रक्षणकर्ता मानना, भगवान की इच्छा के सामने अन्य कोई उपाय नहीं - ऐसा मानना यह सब अज्ञान है। भगवान के स्वरुप को न जानने से यह अज्ञान उत्पन्न होता है।

भगवान का स्वरुप जानकर वीतरागी अरहंत, सिद्धों को पूजने से हमें अपने वीतराग स्वरुप शुद्धात्म स्वभाव की पहचान होती है और हमारी दृष्टि त्रिकाली शुद्ध आत्मस्वभाव के सन्मुख होती है। ऐसा होने पर ही सच्चे देव की सच्ची भक्ति, पूजा होती है।

मुझे पता है कि इस पत्र में बहुत सारे नये शब्द लिखे गये हैं जिसका अर्थ अभी तुम्हारी समझ में नहीं आ रहा होगा। परंतु धीरज रखो, और दो पत्रों के बाद विषय मूल से लिखना प्रारंभ करुंगी तब सब कुछ आसान लगेगा।

अच्छा तो अगले पत्ररुप से फिर मिलते हैं -

तुम्हारी माँ

पत्रांक ३
१२ जुलाई १९९३

तत्त्वाभ्यास की महिमा

प्रिय रीना एवं मोना,

अनेक उत्तम शुभाशीर्वाद।

गत दो पत्रों के प्रतिफल में प्राप्त प्रतिक्रिया और अधिक जानने की तुम्हारी रुचि और उत्साह को देखते हुअे यह पत्र लिख रही हूँ।

परमात्मा का स्वरुप कैसा होता है? इसके बारे में हमने पिछले पत्र में लिखा। प्रत्येक आत्मा परमात्मा बन सकता है यह भी जाना। उसके लिए 'मैं आत्मा हूँ' यह सब से पहले मालूम होना आवश्यक है। हाल में मनुष्य अवस्था में रहते हुअे भी शरीर, मन, वाणी से मैं भिन्न हूँ और मेरा अर्थात् शुद्धात्म स्वरुप का ज्ञान शास्त्राभ्यास के द्वारा करके, उसीप्रकार प्रात्यक्षिक करके यह आत्मा अनुभव में आ सकता है ऐसा १०० टका विश्वास - श्रद्धा चाहिए।

कैसी मजे की बात है देखो। आज के विज्ञान युग के जो आविष्कार हैं वे कभी कल्पना लोग की बातें हुआ करती थी; किन्तु दृढ आस्था और आत्मविश्वास से खोज करते करते उन्हें भी जब सत्य सिद्ध कर दिया तो आत्मा - परमात्मा के बारे में तो - जो भी कथन जिनवाणी में - दिव्यध्वनि में आया है वह तो त्रिकाल सत्य है और उसका बना हुआ दृढ श्रद्धान निश्चित ही जीव को भगवान बनाने में समर्थ है। जिनेन्द्र की वाणी ही सत्य को प्रतिपादन करती है अन्य वाणी नहीं। क्योंकि जिनेन्द्र का स्वरुप ही वीतरागी और सर्वज्ञ है। वीतरागी याने जिनको मोह, राग, द्वेष का लवलेश भी नहीं है तो वे झूठ कहेंगे ही क्यों ? और सर्वज्ञ याने सब कुछ जाननेवाले वे झूठ कहेंगे ही कैसे? जो सब कुछ जानते हैं उनका ही कथन यथार्थ होगा। इस श्रद्धा के बल पर हम भगवान क्यों नहीं बन सकते ?

तीर्थंकरों की यह दिव्यध्वनि ॐ कार रुपसे उनके सर्वांग में से इच्छा के बिना खिरती है। समवशरण में बैठे हुअे जीव - मनुष्य, तिर्यंच व देवगति के देव अपनी अपनी शक्ति के अनुसार उसका अर्थ ग्रहण करते हैं। गणधर आचार्य भगवान के इस उपदेश को ग्रहण करके द्वादशांग की रचना करते हैं। इसी को आगम कहते हैं। यह आगम आचार्यों की परंपरा से दीर्घकाल तक प्राप्त होता है। उसमें से कुछ अंश आज ग्रंथ रुप से उपलब्ध है। पूर्व काल में हुअे अनेक महान आचार्यों के अपने ऊपर महान उपकार हैं कि उन्होंने परंपरा से प्राप्त गुरुओं का उपदेश, आगम का अभ्यास और स्वानुभव से प्राप्त ऐसा ज्ञान का भंडार ग्रंथरुप से लिखकर रखा है जो आज भी हमें उपलब्ध है। हमारे पूर्वजों के भी महान उपकार

हैं कि २००० वर्षों से भी पुराने ग्रंथ उन्होंने आज तक हमारे लिए सुरक्षित रखें - हमें उपलब्ध करायें। पहले तो सब हस्तलिखित ही था। छपाई के इस युग में घर - घर में ग्रंथ पहुँच गये हैं।

देव, गुरु और शास्त्र तो वंदनीय हैं; क्योंकि उन्हीं के कारण हमें धर्म का स्वरुप याने वस्तुस्वरुप का ज्ञान प्राप्त होता है।

अरहंत, सिद्ध, साधु इन्हें हम 'लोगुत्तमा' अर्थात् लोक में - विश्व में सबसे उत्तम कहते हैं, मंगल कहते हैं; उत्तमपना और मंगलपना उन्हें वीतराग विज्ञानता के कारण प्राप्त हुआ है। हम देवों के आगे नतमस्तक होते हैं, उनकी शरण में जाते हैं। परंतु ये देव किसकी शरण में गये थे? वे तो वीतराग विज्ञान स्वरुप निज शुद्ध आत्मा में नत और रत हो गये। हम ईश्वर के चरण में इसलिए झुकते हैं कि हम उनका आदर्श अपने सामने रखें। उन्होंने कौनसा मार्ग अपनाया यह देखने के लिए और न कि सिर्फ भगवानदास बनने के लिए।

कॉलेज में जाकर अध्यापकों की सिर्फ स्तुति करने से, सिर्फ उनके चरणों में झुकनेसे तुम्हें डिग्री (उपाधि) प्राप्त नहीं होगी। उन अध्यापकों के निर्देशन में स्वयं अभ्यास, और बारम्बार प्रयोग करके ही कोई भी ज्ञान, कला, पदवी प्राप्त कर सकते हैं।

यहाँ पर भी ऐसा ही है। अरहंत, सिद्ध साधु को मात्र नमस्कार करना कार्यकारी नहीं है, परंतु 'केवलि पण्णत्तं धम्मं सरणं पव्वज्जामि' याने केवली प्रणित जो धर्म है, उसकी शरण में जाना चाहिए अर्थात् उस मार्ग का अवलंबन लेना चाहिए।

धर्म के बारे में विविध लोगों के विविध मत-मतांतर सुनने में आते हैं। कोई कहते हैं हमें धर्म का उद्धार करना चाहिए। वे शायद यह नहीं जानते कि धर्म का आधार लेने से दुःखी ओर अज्ञ जीवों का उद्धार होता है। हरेक को चाहिए कि वे धर्म का नहीं अपितु धर्म के आधार से अपना उद्धार करें। धर्म अर्थात् वस्तुका स्वरुप, वस्तु याने द्रव्य। धर्म तो तीनों काल में जैसा है, वैसा ही रहता है। जैसे अग्नि का धर्म उष्णता है। ५००० वर्षों के पहले भी अग्नि उष्ण थी और आज भी उष्ण ही है; भारत में भी उष्ण है और अमरिका में भी उष्ण ही है। इसीसे पता चलता है कि वस्तु का धर्म याने स्वभाव तीनों काल में और तीनों लोकों में एक जैसा कायम रहता है, कभी बदलता नहीं है।

वस्तु के धर्म याने स्वरुप का कथन सत्शास्त्रों में किया हुआ है। उसका हमें अभ्यास करना चाहिए, वह भी किसी के मार्गदर्शन से, नहीं तो अपनी बुद्धि से गलत अर्थ ग्रहण करके हम दिशाहीन हो सकते हैं। जिसतरह स्कूल में क, ख, ग, घ से शुरुवात करके हर वर्ष अधिकाधिक ज्ञान दिया जाता है, उसीतरह इस बारे में भी प्रारंभिक विषय से शुरुवात कर के ही आगे बढ़ना चाहिए। अधिकांश लोग इस तत्त्वज्ञान से और अभ्यास से दूर ही रहते हैं।

अनेकों को यह एक Scientific Study है इसका पता नहीं है। बेटा, औरों की तो बात ही क्या, मुझे भी बचपन में ऐसा ही लगता था कि अपने भगवान और गुरु दिगंबर रहते हैं, अपने धर्म में उपवास और व्रत कठिण होते हैं, पूजा, व्रत, दानधर्म व यात्रा करने से धर्म होता है। सच कहो तो तत्त्वज्ञान के अभ्यास के बिना धर्म का स्वरुप ही नहीं समझा जा सकता तो फिर धर्म (वीतरागता) प्रगट करना तो दूर ही है।

कुछ लोग जो लौकिक दृष्टि से सुखी हैं, जिन्हें थोड़ी बहुत लौकिक सफलता और समृद्धि मिली हैं, उन्हें ऐसा लगता है कि हमें नहीं चाहिए वह तत्त्वज्ञान और अध्यात्म। जब हमें मोक्ष की चाह ही नहीं है, तो हम फिजूल में वर्तमान सुखों से वंचित क्यों रहें?

जरा सोचो तो सही, जो सुख तत्त्वज्ञान के अभ्यास से नष्ट होता होगा उसे सुख ही कैसे कहा जायेगा? तुम्हें याद हैं, बचपन में तुम तुमने देखे हुअे सपने मुझे विस्तार से बताया करती थी, उन्हें बताते हुअे भी कभी तुम डरती थी और कभी हँसती थी। मेरी कोई प्रतिक्रिया नहीं देखकर तुम्हें गुस्सा भी आता था कि तुम्हारे कहने का किसी भी प्रकार का कोई असर क्यों नहीं होता? परंतु अब तुम समझ सकती हो कि सपनों में देखे हुए दृश्यों की और उनसे उत्पन्न भावों की जागृत अवस्था में कोई भी कीमत नहीं करता।

तत्त्वों के अभ्यास करने से ऐसे स्वप्न टूटते हैं, जागृत अवस्था आती है। जिन बातों में सुख है ही नहीं उनमें से सुखबुद्धि नष्ट होती है।

हम जिसे सुख मानते हैं वह संसार का सुख सचमुच चिन्तारहित Tension Free है क्या? "मेरा यह ऐश्वर्य कायम कैसे रहेगा? मेरे प्रिय माँ, बाप, पुत्र मुझे छोड़कर चले तो नहीं जायेंगे ? मुझे लम्बा आयुष्य तो प्राप्त होगा की नहीं, मैं और मेरे कुटुंबी जन निरोगी रहेंगे या नहीं" ऐसी एक दो नहीं अनेक चिंताओं से हम घिरे रहते हैं।

देखो ना, समाज के अनेक स्तरों के अनेक व्यक्ति मेरे पास आते हैं, दरिद्री से लेकर अमीरों तक और बालकों से लेकर वृद्धों तक। उनका दुःख उनकी बीमारी तक ही मर्यादित नहीं रहता। अपने नज़दिकी कुटुंबियों से भी जो दुःख कहे नहीं जाते ऐसे दुःख ये लोग फॅमिली डॉक्टर होने के नाते मुझे बताते हैं। अमीर और बाह्यतः सुखी दिखनेवाले ये लोग जब अपने दुःख बताते हैं, तो वे मुझे अंतर्मुख बनाते हैं। इन दुःखों के कारण और उनके उपाय ये दोनों अपने तत्त्वज्ञान में ही मिलते हैं। तब तत्त्वाभ्यास की जरुरत और महत्ता और भी अधिक तीव्रता से महसूस होती है।

तत्त्वाभ्यास से मनुष्य धर्मांध होता है – यह सोच–समझ भी सर्वथा गलत है। सत्य क्या है , असत्य क्या है यह बताकर, असत्य मतों का न्यायपूर्वक खंडन

करके सत्य धर्म - दिगंबर जैन धर्म अर्थात् केवली प्रणित उपदेश ही सत्य क्यों है? इसका प्रतिपादन अनेक ग्रंथों में किया हुआ है। जैसे, मोक्षमार्गप्रकाशक, रत्नकरंड श्रावकाचार, राजवार्तिक आदि।

कोई कहते हैं कि हमें तो सब धर्म एक जैसे ही हैं। (१) हम सब धर्मों का तत्त्वज्ञान पढ़ते हैं, (२) सब देवों को नमस्कार करते हैं, (३) णमोकार मंत्र में भी तो विश्व के सर्व साधुओं को नमस्कार करने को कहा है न? उसका उत्तर ऐसा है -

१. सर्व धर्मों के तत्त्वज्ञान पढ़ने का कोई निषेध तो नहीं है क्योंकि ऊपर जिन ग्रंथों के नाम लिखे हैं, उन ग्रंथों के ग्रंथकर्ताओं ने अन्य सब दर्शनों का (अन्य तत्त्वज्ञान का) भी तुलनात्मक अध्ययन किया था। हमने कभी सुने भी नहीं होंगे ऐसे धर्मों के नाम और उन धर्मों के तत्त्वज्ञान का सूक्ष्म विवेचन उन ग्रंथों में किया हुआ है। इसके अतिरिक्त उन आचार्यों का और पंडितों का व्यायशास्त्र का गहन अध्ययन था। इन्होंने सब धर्मों का अध्ययन करके पश्चात जैन दर्शन ही कैसे श्रेष्ठ है? यह साधार सिद्ध किया है। ऐसा निर्णय करने लायक लम्बी उम्र हरेक व्यक्ति को मिलेगी ही – यह संभव नहीं है।

२. सब देवों को याने कुदेवों को, अदेवों को नमस्कार करनेवाला व्यक्ति परीक्षाप्रधानी हो ही नहीं सकता। मामुली मिट्टी का घड़ा खरीदना हो तो भी हम उसे ठोक बजाकर खरीदते हैं लेकिन देव के बारे में वह देव है या नहीं - इसका विचार न करके सबको एक ही नाप से नापते हैं। और सब को समान समझते हैं। इसी को विनय मिथ्यात्व कहा है।

हम ये बातें लोकरुढी से, अन्य धर्मियों से निरंतर होनेवाले संस्कारों के कारण विचार किए बिना ही करते हैं; विचार करनेवालों को पुराने खयालात के समझते हैं और अपने को सर्वधर्मसमभाव है - ऐसा दावा करते हैं। सच तो यह है कि समभाव का अर्थ साम्यभाव अर्थात् न राग न द्वेष। परंतु जो सब देव-देवताओं को नमस्कार करते हैं वे रागवश ही तो करते हैं।

३. णमोकार मंत्र में 'णमो लोए सव्व साहूणं' अर्थात् 'जगत के सब साधुओं को नमस्कार' ऐसा जो कहा है वहाँ साधु शब्द का अर्थ है दिगंबर जैन मुनि। आचार्य, उपाध्याय और साधु इन सबको मिलकर भी 'साधु' शब्द से संबोधित किया जाता है जैसे 'साहू मंगलं', 'साहू लोगोत्तमा' आदि। जब कोई व्यक्ति णमोकार मंत्र पढ़कर उसके अर्थ में से भी अनर्थ कर सकता है तो शास्त्र पढ़कर वह क्या-क्या अनर्थ करेगा इसकी कल्पना भी नहीं की जाती। 'शास्त्रों के अर्थ करने की पद्धति' के बारे में हम अगले पत्र में समझेंगे।

कुछ लोग कहते हैं आप चाहे जितना स्वाध्याय कीजिए हम से बने उतनी मदद करने को हम अवश्य तैयार हैं परंतु हमें इसमें मत घसीटो। ऐसा अगर कहते रहेंगे तो कोई भी ज्ञान एक पेढ़ी से अगली पेढ़ी तक नहीं जायेगा।

आजकल अढ़ाई - तीन बरस के बच्चों को स्कूल में भरती करते हैं, भरती कराने के लिए माँ - बाप कहीं कहीं बीस पचीस हजार रुपये डोनेशन भी देते हैं और स्कूल में प्रवेश मिलने पर अपने आपको कृतकृत्य समझते हैं। शुरु शुरु में बच्चे जोर शोर से रोते हैं फिर भी माँ बाप बड़ी शान्ति से उन्हें रोते बिलखते छोड़कर घर लौटते हैं। इसका यही एक कारण है कि वे जानते हैं शिक्षण के बिना कोई चारा नहीं हैं, मान प्रतिष्ठा पैसा कुछ मिलनेवाला नहीं हैं। तत्त्वज्ञान की आवश्यकता और महत्ता हम माँ बाप को जब तक महसूस नहीं होती तब तक हम अपने बच्चों को कैसे दे सकते हैं ? और तो और, आज कल अनेक बच्चे अंग्रेजी मिडियम में पढ़ते हैं और वे भी इस तत्त्वज्ञान के अभ्यास से अधिक दूर होते जाते हैं। इसकारण हम माँ बाप की जिम्मेदारी और भी बढ़ गयी है। यह हमारा कर्तव्य है कि जिनवाणी का अमोल भंडार उन्हें भी उपलब्ध हो। अंग्रेजी भाषा में भी जैन तत्त्वज्ञान भाषांतरित रुप से उपलब्ध हो रहा है। यह इन बच्चों का भाग्य ही है।

हमारा पहला पत्र पढ़कर रेश्मा ने कहा था, भाषा के कारण कुछ शब्द समझ में नहीं आये मगर दो तीन बार पढ़नेपर विषय समझ में आया। आत्मा और शरीर के बारे में मेरे विचार आज तक अलग ही थे परंतु वस्तुस्थिति कुछ और ही है यह मुझे समझ में आया।

अरी बिटिया, लौकिक जीवन में तो हम अनेक विषयों का ज्ञान संपादन करते रहते हैं। रीना, तेरे ससुरजी - शशीकांतभाईजी का उदाहरण देखो ना। नानाविध विषयों के संबंध में उनका वाचन और गहरा अध्ययन सराहनीय है। विविध क्षेत्रों में प्राप्त अत्याधुनिक टेक्नॉलॉजी, मेडिकल सायन्स, आयुर्वेद, फिल्म टेक्नॉलॉजी, नयी खोज आदि बारे में और अन्य भी अनेक विषयों के वे जानकार हैं। जैन तत्त्वज्ञान के जानने में उनकी जिज्ञासा भी सराहनीय है। ऐसा open mindedness (खुला चिन्तन) होगा तो ही कोई भी विषय समझने में देर नहीं लगेगी।

आचार्य अमृतचंद्र ने अपने 'आत्मख्याति' ग्रंथ में कहा है, "अयि कथमपि मृत्वा तत्त्वकौतुहली सन्" याने 'अरे भाई! किसी भी प्रकार से - मरकर भी तत्त्व का अभ्यास करने की जिज्ञासा कर - कुतुहल कर। आज इतना लिखकर ही विराम लेती हूँ। अगले पत्र द्वारा फिर मिलेंगे।

तुम्हारी माँ

पत्रांक ४ १५ अगस्त १९९३

जैन शास्त्रों के अर्थ करने की पद्धति

प्रिय रीना एवं मोना,

अनेक उत्तम शुभाशीर्वाद।

पत्रों की तुम बड़ी आतुरता से राह देखती हो यह पढ़कर अच्छा लगा। इन पत्रों को सम्हाल कर रखती हो यह बहुत अच्छी बात है। क्योंकि बार-बार पढ़ने से उसका मर्म अधिक ख्याल में आता है। शुरुवात में अनेक नये शब्द पढ़कर उलझन में पड़ सकती हो मगर पुनःपुनः वाचन करने से वे शब्द याद हो जाते हैं। हम टी.व्ही. सिरीयल देखते हैं तब पहले दो तीन एपिसोड देखने के बाद ही पात्रों की पहचान होने लगती है, है ना?

हम सभी को तत्त्वज्ञान की नितांत आवश्यकता है। यह हमने पिछले पत्र में लिखा था। परंतु तत्त्वाभ्यास करना याने नक्की क्या करना? ऐसा अगला प्रश्न हमारे मन में खड़ा होता है। क्योंकि जैन शास्त्र तो बहुत सारे हैं। हम अपने आप वाचन करने लगते हैं तो कुछ अर्थबोध नहीं होता। जैन शास्त्रों का ही नहीं प्रत्येक विषय के बारे में ऐसा ही होता है। मेडिकल सायन्स की, इंजिनियरिंग की किताबें बजार में उपलब्ध होने पर भी सम्बन्धित कॉलेज में भरती होकर, वहाँ पढ़कर ही विद्यार्थी डॉक्टर अथवा इंजिनियर बनता है। हर एक विषय का ज्ञान उस विषय के जानकार विशेषज्ञ से ही प्राप्त करना चाहिए।

जैन शास्त्रों में से अर्थ निकालना यह आत्मज्ञानी गुरु का ही काम है। जिन्हों ने वीतरागता प्रगट की है, वे ही शास्त्रों के शब्द का मर्म जानते हैं और वे ही उसमें से अर्थ निकाल सकते हैं। शास्त्रों का अर्थ करना केवल शब्दार्थ तक ही सीमित नहीं हैं। शब्दार्थ के साथ भावार्थ, आगमार्थ, नयार्थ, मतार्थ भी समझना आवश्यक है।

अपना घर का ही उदाहरण देखो। किसी अनजान बालिका को कहा कि देख यह जो दूध है ना, उसमें घी है उसे अलग कर दो। वह बालिका या तो उलझन में पड़ेगी या आजकल के स्मार्ट बच्चों की तरह कहेगी, 'माँ, तुम तो कुछ समझती तो है नहीं, तुम्हें दूध में घी कहाँ दिख रहा है ?

उसकी जगह घर में अगर ऐसी कोई जानकार महिला हो कि जो घी कैसे बनाया जाता है - यह जानती है और हमेशा घी बनाने की जिसे प्रैक्टिस है वह दूध से घी बनाने की विधि बता सकती है। वैसे ही शास्त्र के जानकार आचार्य हमें शास्त्रों में से अर्थ कैसे ग्रहण करना इनकी विधि बताते हैं। अब उसकी चर्चा करेंगे।

शब्दार्थ – गाथा का अथवा वाक्यों का शब्दशः अर्थ करना उसे शब्दार्थ ऐसा कहते हैं। मात्र शब्दार्थ करने से उसका भाव समझेगा ही ऐसा नहीं। जैसे छोटे बच्चे सिनेमा के गीत गुनगुनाते हैं 'मुझे प्यार हो गया' परंतु उसका भाव तो वे नहीं जानते। शास्त्रों का मर्म समझने के लिए शब्दार्थ के साथ भावार्थ जानना भी जरुरी हैं।

भावार्थ – शब्दों का मर्म विशद करके बतानेवाला भावार्थ है। संस्कृत, प्राकृत का गाढा पंडित है इसलिए वह भावार्थ निकाल सकेगा ही ऐसा नहीं। शब्दों के अर्थ के साथ साथ उनमें छिपे हुअे भावों को समझना पड़ेगा। जैसे, कोई बालक बिना पूछे ६ से ९ के शो में सिनेमा देखकर घर लौटेगा तो उसकी माँ उससे कहेगी, 'बहुत सयाना है तू! जा दूसरा शो भी देख।' माँ की बात का व्यंगार्थ समझेगा तो बालक को अपनी भूल का एहसास होगा और यदि मात्र शब्दार्थ ग्रहण करेगा तो वह सोचेगा माँ मुझपर आज प्रसन्न है, तभी तो दुसरा शेा देखने को कह रही है। वैसा ही मानकर वह पुनश्च सिनेमा देखने चला जाये तो मूर्ख ही माना जायेगा।

आगमार्थ – जिनागम अर्थात् संपूर्ण जैन आगम - जिसे हम शास्त्र कहते हैं। उस जिनागम का चार अनुयोगों में विभाजन होता है। विवक्षित कथन अध्यात्म ग्रंथ का है, आचार ग्रंथ का है, करणानुयोग का है या प्रथमानुयोग का है यह देखकर उसके अनुसार उसका अर्थ जानना और उस कथन का अभिप्राय समझना आवश्यक है। वैसा जाने बिना जिनवाणी के ही दो भिन्न-भिन्न कथनों में विरोध भासित होना संभव है।

नयार्थ – सम्यक्श्रुतज्ञान के अंश को नय कहते हैं। वस्तु को अनेक अपेक्षाओं से जाना जा सकता है। जिस अपेक्षा से कथन किया हो उस अपेक्षा से अर्थ समझना इसे नयार्थ कहते हैं। जैसे, जब हम 'घी का घड़ा' ऐसा कहते हैं तब 'जिस घड़े में घी रखा है वह घड़ा' इसतरह संयोग की अपेक्षा से मिट्टी के घड़े को घी का घड़ा कहा है ऐसा यथार्थ अर्थ समझ लेते हैं।

हमने पहले पत्र में लिखा था कि शरीरसहित जीव को शरीर के संयोग की अपेक्षा से मनुष्यजीव, तिर्यंचजीव आदि कहते हैं। वर्तमान में जीव की कौनसी अवस्था है और उस अवस्था के कौनसे गुणधर्म हैं, यह अपेक्षासहित बताना एक नय का काम है तो शुद्ध जीव के स्वरुप का वर्णन करना दूसरे नय का काम है। 'किसी अपेक्षा से' इसके लिए 'कथंचित्' तथा स्यात् शब्द का प्रयोग किया जाता है। जैन शास्त्रों का कथन, स्यात् कथन, अर्थात् स्यात् वाद याने स्याद्वादरुप है। इसी कारण जिनवाणी को 'स्याद्वादमयी वाणी' कहते हैं। शास्त्र में हर कथन के साथ स्यात् कहकर अपेक्षा का कथन किया ही होगा - ऐसा नियम नहीं है, फिर भी जैन शास्त्रों में स्यात् कथन ही होता है। इसलिए कहाँ कौनसी अपेक्षा के

साथ कथन किया है - यह जानना अत्यावश्यक है। 'नयचक्र' अपने आप में बहुत बड़ा और गंभीर विषय है उसका विस्तार तो अभी संभव नहीं है, पर दो चार नयों के नाम यहाँ बता देती हूँ - निश्चयनय, व्यवहारनय, द्रव्यार्थिकनय पर्यायार्थिकनय। इनका अर्थ अभी नहीं बताऊँगी। भविष्य में कभी पढ़ोगी तब तक उसके लिए आपको उत्सुकता जगे इसलिए अभी उनमें से कुछ नाम लिखे हैं।

मतार्थ – शास्त्रों का कथन अर्थात् मात्र वीतराग सर्वज्ञ का कथन ही किसतरह सत्य है उसके अनेक तर्क और युक्तियाँ दी जाती हैं। कोई दो पंक्ति का श्लोक क्यों न हो, मगर उसमें से प्रत्येक शब्द अन्य मतों का (अन्य दर्शनों का) खंडन कर सकता है।

जैन शास्त्र सर्वज्ञ कथित हैं। ॐ कार रुप से दिव्यध्वनि खिरती है। गणधर इसकी द्वादशांगों में रचना करते हैं। अनेक आचार्यों की परम्परा से यह द्वादशांग का उपदेश चलता आ रहा है। आत्मानुभवी वीतरागी दिगंबर जैन मुनियों ने उस परम्परा उपदेश के अनुसार शास्त्र लिखे हैं। सिर्फ पहली पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक Pass on नहीं किया लेकिन स्वयं आत्मानुभव से उस वाणी की प्रतीति करके ही उन्होंने अपने शिष्यों को उपदेश दिया है। इसतरह स्वमत की नाना युक्तियों से स्थापना तथा परमत के दोषदर्शन करके उनका निराकरण करना मतार्थ है।

संपूर्ण जैन आगम को चार विभागों में विभाजित कर सकते हैं। ग्रंथ में कौनसे विषय की चर्चा है, किसका वर्णन है उसके अनुसार यह विभाजन होता है। इस पद्धति को अनुयोग कहते हैं। प्रथमानुयोग, चरणानुयोग, करणानुयोग और द्रव्यानुयोग ऐसे ये चार अनुयोग हैं।

प्रथमानुयोग – जीवों को धर्म के प्रति रुचि जागृत हो इस हेतु से कथा रुप से तीर्थंकर, चक्रवर्ती आदि के चरित्र का वर्णन जिन ग्रंथों में किया जाता है और जिन ग्रंथों में कथाओं के माध्यम से तत्त्वज्ञान का उपदेश दिया जाता है उसे प्रथमानुयोग कहते हैं।

शुरुवात में जीवों को पुण्य का और उसके फल में प्राप्त होनेवाली सामग्री का आकर्षण रहता है। इसलिए पुण्य का महात्म्य बताकर जीवों को सत् धर्म के प्रति रुचि उत्पन्न कराते हैं। छोटे बच्चों को टॉफी - चॉकलेट की लालच दिखाकर स्कूल में जाने के लिए उनका मन तैयार कराते हैं वैसे ही यह है। णमोकार मंत्र का महात्म्य बताकर देवदर्शन, णमोकार मंत्र, पूजा, स्वाध्याय इनके प्रति जीवों को प्रेरित किया जाता है। तत्पश्चात् ऐसे जीवों को अरिहंत, सिद्ध का स्वरुप, उनका बताया हुआ मार्ग अर्थात् उपदेश का ज्ञान कराया जाता है।

णमोकार मंत्र के महात्म्य से एक बात याद आ गयी। तुम दोनों को बातें प्रिय लगती हैं इसलिए बताती हूँ। प्राध्यापक शिवाजीराव भोसले (महाराष्ट्र के एक

सुप्रसिद्ध वक्ता जो जैनदर्शन पर भी व्याख्यान देते हैं, विश्वविद्यालय में कुलपति रह चुके हैं) की यह बात है। उन्हीं के मुख से १९८४ में सुनी थी। उनके गाँव फलटण में एक स्त्री थी जो किसी को भी बिच्छू के काटने पर मंत्र पढ़कर बिच्छू का विष उतारती थी। कितने ही लोग उसके पास बिच्छू काटने पर इलाज के लिए आते थे। बचपन में इस बात ने उनके मनपर गहरा प्रभाव डाला था। बड़ा होनेपर उन्हों ने उस स्त्री से पूछने पर उन्हें पता चला कि वह स्त्री 'णमोकार मंत्र' पढ़कर बिच्छू के विष का इलाज करती थी। उन्होंने विचार किया कि णमोकार मंत्र का इतना महात्म्य है तो जैन तत्त्वज्ञान का महात्म्य कितना बड़ा होगा। ऐसा सोचकर उस घटना से प्रेरणा पाकर उन्होंने जैन फिलॉसॉफी (तत्त्वज्ञान) का गहरा अध्ययन किया। इसीप्रकार जिन कथाओं से धर्माचरण की प्रेरणा मिले, वह शैली प्रथमानुयोग कही जाती है।

प्रथमानुयोग के कथाओं द्वारा हमें योग्य संस्कार प्राप्त होते हैं। हमारे इर्द-गिर्द जो लोकरुढियाँ चलती हैं, हम जो बातें सुनते-पढ़ते हैं, हम टी.व्ही. देखते हैं, गाने सुनते हैं इन सबका प्रभाव हमारे मनपर होता रहता है। इनके बारे में हम जाने-अनजाने में विचार करते रहते हैं। वैसे ही हम प्रथमानुयोग की कहानियाँ पढ़ेंगे तो हमारा मन भी उसी के बारे में सोचेगा।

कुछ लोगों को पुराणकथाओं की कई बातें असंभवनीय लगती हैं। कितने ही लोग इन बातों की मज़ाक उड़ाते हैं। परंतु आज के विज्ञान युग में कितनी ही अशक्य लगने वाली बातें सहज शक्य हो रही हैं तो फिर भूतकाल में उनका होना शक्य नहीं था ऐसा क्यों सोचे? पूर्व काल में मंत्रसामर्थ्य अवगत था आज तंत्रसामर्थ्य (तांत्रिकज्ञान) विकसित हो गया है। इसलिए वैज्ञानिक अभ्यासात्मक दृष्टिकोण से उनकी तरफ देखना पड़ेगा।

कोई भी अनुयोग पढ़ो, चारों अनुयोगों का सार वीतरागता है, यह वीतरागता उन ग्रंथों में से प्रतीत होगी - समझ में आयेगी तो ही उस अनुयोग का वांचना कार्यकारी होगा। प्रथमानुयोग कथा कहानियों के लिए नहीं, मगर वीतरागता प्राप्त कराने के लिए ही है। तीर्थंकरों का चरित्र पढ़कर यह पता चलता है कि किसतरह एक बालक आत्मज्ञानपूर्वक मुनि, अरिहंत और सिद्ध बनता है? किसी जीव का अनेक भवों का वर्णन पढ़कर यह बात ध्यान में आती है कि प्राप्त मनुष्यपर्याय जितना ही मैं नहीं हूँ। सर्वाधिक संपत्ति और वैभव के स्वामी चक्रवर्ती भी उन सारे वैभवों का त्याग करके मुनि बनकर मोक्ष की प्राप्ति करते हैं। इस बात से भी यह सिद्ध होता है कि संपत्ति में, वैभव में या अधिकार में कहीं भी कुछ भी सुख नहीं है।

चरणानुयोग – आचरण के बारे में ये जो ग्रंथ हैं उनमें प्रारंभ में ही सम्यक्दर्शन का महात्म्य और उसका स्वरुप बताकर सम्यक्दर्शनपूर्वक ही व्रत व

तप होते हैं इसका वर्णन आता है। सम्यक्दर्शन को ही प्रथम कर्तव्य बताया है। सम्यक्दर्शन से धर्म की शुरुवात होती है, मोक्षमार्ग प्रारंभ होता है। आगे चलकर इस मोक्षमार्ग का स्वरुप कैसा होता है इसका बाह्य आचरणों के द्वारा वर्णन करते हैं। अंतरंग में वीतरागता और उस वीतरागता के अनुरुप बाह्य आचरण का सुमेल रहता है इसलिए उन्हें मोक्षमार्ग का सहचर कहा है।

जिन्हें तत्त्वज्ञान जानना है उन जीवों को भी सदाचार युक्त जीवन जीना अत्यंत आवश्यक है, नहीं तो तत्त्वज्ञान सुनकर शांति के बदले क्रोधाग्नि भभक उठता है, ऐसे भी लोग देखने में आते हैं। तुम्हें पता ही है कि उबलते हुअे तेल में शीतल स्वभावी पानी का एक छींटा भी पड़े तो ताड़ ताड़ आवाज होकर आग लगने की संभावना रहती है; परंतु उसी के बदले में पकोड़े झालने से तलकर ऊपर आते हैं। तीव्र कषायी जीवों का भी जिनवाणी सुनकर विरोध बढ़ता है और भयानक रुप लेता है। अपने ही कल्याण की बातें सुनकर जिन्हें क्रोध उत्पन्न होता है उनका कल्याण होना अभी दूर है ऐसा समझना चाहिए।

धार्मिक अभ्यास का अर्थ धर्मांधता नहीं है। लौकिक सज्जनता और नैतिकता के बिना कोरा शास्त्राभ्यास बदनामी का कारण बनता है। उसका उपदेश और संस्कार तो तुम्हें माता-पिता, दादा-दादी, स्कूल के शिक्षक से प्राप्त हुआ ही है। वह तो प्रत्येक माता-पिता का कर्तव्य ही है। कहा भी है -

माता वैरी पिता शत्रु येन बालो न पाठिताः ।
न शोभते सभामध्ये हंसमध्ये बको यथा ॥

करणानुयोग – करण याने गणित के सूत्र। जीवों के अनेक प्रकार के भाव, शरीरादि की अपेक्षा से जीवों का वर्णन, गुणस्थान, मार्गणा, कर्मों का विस्तृत वर्णन, त्रिलोक की रचना आदि अनेक चीजों का सूक्ष्म वर्णन इस अनुयोग में किया है। इसमें गणित के सूत्र, विविध संख्या, संख्यामान, संख्यातीत ऐसे असंख्यात का और अनंत का स्वरुप और उनके भी अनेक भेद बतायें हैं। हमने जो गणित विषय पढ़ा है उसमें केवल Infinite कहकर संख्यातीत को बताया जाता है मगर इस करणानुयोग में Infinite के भी पल्य, सागर, सूच्यंगुल, घनांगुल, जगत्श्रेणी, जगत्प्रतर, लोक आदि मापदण्डों का वर्णन पढ़कर हम आश्चर्य से दंग होकर रहते हैं। यह बहुत ही Interesting Subject है। बुद्धि के लिए आव्हान तो है ही, अनेक प्रकार की विचित्र बातों का ज्ञान भी होता है। और सच कहूँ तो ये ग्रंथ पढ़ने पर केवलज्ञान के याने सर्वज्ञता के स्वरुप की अगाधता का भान होता है।

अनेक प्रकार के जीव, उनकी ८४ लाख योनियाँ, काल के नापने का साधन, परिणामों की विचित्रता आदि देखनेपर संसारसागर की अगाधता का भावभासन होता है। प्राप्त मनुष्यपर्याय कितनी अल्प है और उसका सही उपयोग करने से

अर्थात् जिनवरकथित मार्ग की पहचान और प्राप्ति करने से ही बचने का उपाय हो सकता है इसका पद-पद पर एहसास होने लगता है।

इस अनुयोग के पढ़ने से ज्ञान में वृद्धि होती ही है, बुद्धि भी तीक्ष्ण होती है, उपयोग सूक्ष्म होता है, सर्वज्ञ की प्रचीति होती है।

द्रव्यानुयोग – इसे ही परमागम अथवा अध्यात्मशास्त्र ऐसा भी कहते हैं। इसमें आत्मा की अनुभूति प्राप्त हो इस उद्देश्य से आत्मा का वर्णन, अन्य द्रव्यों से उसकी भिन्नता, भेदज्ञान, आत्मिक शक्तियाँ आदि का वर्णन है। इसमें द्रव्य, गुण पर्यायों का स्वरुप बताकर उनके भेद-प्रभेद बतलाकर अभेद ऐसे आत्मा का वर्णन और उसे जानने का मार्ग बताया है। प्रयोजनभूत तत्त्वों का स्वरुप बताकर स्वतत्त्व की प्राप्ति का उपाय बताया है।

जिनवाणी की अगाधता देखकर उसकी उपेक्षा करना, अरुचि प्रदर्शित करना उचित नहीं है। जिनवाणी में तो शुद्धात्मा का वर्णन और उस शुद्धात्मा को जानने का मार्ग बताया है। और यह शुद्धात्मा अन्य कोई नहीं स्वयं मैं ही हूँ - ऐसा हरेक को लगना चाहिए। अगर मेरी अभिनंदन सभा चल रही हो, और अनेक वक्ता मेरी स्तुति कर रहें हो तो वह मुझे प्रिय लगती, उसमें आलस नहीं आता वैसे ही शास्त्रों के बारे में लगना चाहिए क्योंकि इसमें अपनी याने आत्मा की ही चर्चा है। यदि हमें ये शास्त्र पढ़ने हैं तो शुरुवात कहाँ से और कैसे करें इसके बारे में अगले पत्र में समझेंगे।

अच्छा ! पत्रोत्तर जरुर लिखना।

तुम्हारी माँ

* *

एक तरफ सम्यग्दर्शन का लाभ प्राप्त होता हो और दूसरी तरफ त्रैलोक्य का राज्य प्राप्त होता हो तो भी त्रैलोक्य के राज्यप्राप्ति से सम्यग्दर्शन का लाभ श्रेष्ठ है। त्रैलोक्य का राज्य प्राप्त होकर भी किसी निश्चित काल के बाद वह नष्ट होनेवाला ही है और सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होनेपर अविनाशी मोक्षसुख की प्राप्ति होती है। एतदर्थ त्रैलोक्य के लाभ से सम्यक्त्व का लाभ श्रेष्ठ है।

- श्री. शियकोटी आचार्य 'भगवती आराधना'
गाथा ७४६ - ७४७

* *

पत्रांक ५ २ अक्टूबर १९९३

विश्व का स्वरुप

प्रिय रीना एवं मोना,

अनेक उत्तम शुभाशीर्वाद।

पर्युषण के उपलक्ष में प्रवचनार्थ हम दोनों औरंगाबाद गये थे, आते ही पत्र लिख रही हूँ। हमारे इन पत्रों की अच्छी प्रतिक्रिया मिल रही है। औरंगाबाद की श्रीमती फडकुले वहाँ की महिलाओं का सामूहिक स्वाध्याय कराती है। उन्होंने कहा, "आपका पत्र - 'सच्चे देव का स्वरुप' हमें स्वाध्याय के लिए बहुत उपयोगी रहा। आपके पत्र हम सामूहिक रुप से पढ़ते हैं। ऐसी भी माँ होती है यह देखकर हमें आश्चर्य और आनंद हुआ।"

कुर्ला-मुंबई के रमेश चाचाजी ने कहा, "बचपन में ग्रंथों की पवित्रता के हौआ के कारण और छुआ छुत के अनेक बंधनों के कारण शास्त्रों से हम दूर-दूर ही रहे। अब मोक्षमार्गप्रकाशक, रत्नकरंडश्रावकाचार पढ़ना शुरु किया है। लेकिन कुछ समझ में नहीं आता इसलिए फिर रख देते हैं। मगर आपके पत्र तो बहुत उपयोगी प्रतीत हुअे। सीधी-सादी भाषा में आपने जो उपक्रम चालू किया है वह बहुत अच्छा है।" चूँकि चाचाजी बहुत ही स्पष्टवादी और सत्य बोलनेवाले व्यक्ति हैं, मैं इसे उनका आशीर्वाद ही समझती हूँ।

अब तक हमने शास्त्राभ्यास के बारे में केवल प्राथमिक जानकारी प्राप्त की। शास्त्रों का अभ्यास, वाचन, श्रवण करने के लिए तो और भी कुछ समझना होगा, पारिभाषिक शब्द और उनके अर्थ जानने पडेंगे। अपने पास धनसंपत्ति, जड़-जवाहरात से भरी पड़ी तिजोरी है मगर उसकी चावी न हो तो? जिनवाणी के विषय में आज हमारी ऐसी ही अवस्था हो गयी है। शास्त्र भंडार तो बहुत बड़ा है, मगर उसमें प्रवेश करने के लिए उसमें आनेवाले शब्दों के अर्थ और मर्म का पता नहीं होगा तो वैसी ही अवस्था होगी जैसी परदेस में वहाँ की भाषा का ज्ञान न होनेपर होती है। इसका उपाय करने के लिए पंडित गोपालदासजी बरैय्या ने जैन सिद्धांत प्रवेशिका लिखकर प्रश्न और उत्तर के रुप में शब्दों की परिभाषायें लिखी हैं। गत सदी में हुअे वे एक महान विद्वान पंडित थे।

प्रथम में प्रथम 'विश्व किसे कहते हैं'? इस प्रश्न से शुरुवात की है। हम भी उसी के बारे में समझेंगे। विश्व अर्थात जगत्, जग, ब्रम्हांड, लोक, दुनिया - जो जो कुछ है वह सब। हम Universe याने पृथ्वी, चंद्र, सूर्य, तारे, ग्रह और अवकाश में अन्य जो चीजें हैं ऐसा अर्थ समझते हैं। किंतु विश्व शब्द का अर्थ इतने मात्र तक

सीमित नहीं है, बहुत व्यापक है। उसकी परिभाषा है, 'द्रव्यों के समूह को विश्व कहते हैं।' जैसे, समाज यह कोई चीज नहीं है, लोगों के समूह को ही समाज कहते हैं; तद्वत् विश्व याने द्रव्यों का समूह। यह समूह किसप्रकार है यह हम आगे देखेंगे।

ये द्रव्य जातिअपेक्षा से छह हैं और संख्या की अपेक्षा से कुल अनंत हैं। उनके नाम इसप्रकार हैं - जीवद्रव्य, पुद्गलद्रव्य, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और कालद्रव्य। उनकी संख्या इसप्रकार है - जीवद्रव्य अनंत हैं, पुद्गलद्रव्य अनंतानंत (अनंत × अनंत) हैं, धर्मद्रव्य एक है, अधर्मद्रव्य एक है, आकाशद्रव्य एक है और कालद्रव्य असंख्यात (लोकप्रमाण) हैं।

स्वामी कार्तिकेय आचार्य ने लिखा हुआ 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' नाम का ग्रंथ है उसमें 'लोकानुप्रेक्षा' में विश्व का और द्रव्य का स्वरुप बताया है। और भी अनेक ग्रंथों में इसका वर्णन हैं। महान आचार्य स्वामी कार्तिकेय भी लिखते हैं कि यह सर्वज्ञ ने बताया हुआ स्वरुप है। कोई भी ग्रंथ देखो, कोई भी आचार्य ऐसा नहीं लिखते हैं कि मैं ऐसा कहता हूँ। जो वस्तु का स्वरुप सर्वज्ञ के ज्ञान में आया और उन्होंने जो बताया वही अनेक आचार्यों ने ग्रंथों में लिखा है।

मेडिकल सायन्स हो या विज्ञान की अन्य कोई शाखा - उपशाखा हो, उसमें कोई विशिष्ट बात के बारे में निश्चित रुप से पता नहीं हो तो सायन्टिस्ट उसके बारे में अलग अलग Theorics याने संभावनाओं बतातें हैं। मगर यह जो सर्वज्ञकथित आगम है - वह Theory नहीं बल्कि Fact है, वस्तुस्थिति है - वस्तुविज्ञान है।

प्रथम लोकाकाश का स्वरुप बताते हैं। आकाश नाम का जो द्रव्य है उसका क्षेत्रविस्तार अनंत है जिसका कोई पार न हो ऐसा अनंत - अनंत आकाश है। उस आकाश के बीचों बीच लोक है। सब द्रव्य याने छहों द्रव्य जहाँ इकट्ठे रहते हैं उन छह द्रव्यों के समूह को लोक कहते हैं। इस लोक को याने विश्व को किसी ने निर्माण नहीं किया है , किसी ने धारण नहीं किया है और उसका रक्षणकर्ता भी कोई नहीं है (कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा १९५)।

इसका भावार्थ ऐसा है कि, अन्यमती की कल्पना के अनुसार ब्रम्हा जगत की रचना करता है, विष्णु उसकी रक्षा करता है, शंकर उसका संहार करता है, शेष नाग ने इसे धारण किया है - आधार दिया है, प्रलय होते ही सब शून्य होता है, मात्र ब्रम्हा की सत्ता रहती है और उसी में से सृष्टि की उत्पत्ति होती है। ये सब बातें कल्पित हैं। इन सब का निषेध इस सूत्र के द्वारा किया है। गत पत्र में हमने देखा ही था कि 'मतार्थ' करना अर्थात् विपरीत मतों का खंडन करना वह इस श्लोक के द्वारा किया है।

इसमें लोक का स्वरुप आगे लिखते हैं कि जीवादि जो छह द्रव्य हैं उनका परस्पर एकक्षेत्रावगाहरुप प्रवेश अर्थात् मिलापरुप अवस्थान को लोक कहते हैं। छह द्रव्यों का समूह लोक है। ये सब द्रव्य नित्य अर्थात् कायम रहनेवाले हैं इसलिए लोक भी नित्य है, अनादि अनंत है। यहाँ 'एकक्षेत्रावगाह संबंध' ऐसा शब्द आया है, उसका अर्थ है एक ही जगह में रहना - एक ही क्षेत्र में निवास करना अर्थात् हरेक द्रव्य की सत्ता भिन्न भिन्न रहते हुअे भी एक ही जगह में अनेक वस्तुओं का रहना। सब द्रव्य एक दूसरे को अवगाहन देते हैं, एकमेक हो जाते हैं, समा जाते हैं। जैसे, एक घनफूट का काच का घन है उसमें से प्रकाश आर पार जाता है। अर्थात् जिस एक घनफूट जगह (space) में कांच है उसी जगह में प्रकाश भी रहता है। कांच और प्रकाश ने एक दूसरे को अवगाहन दिया।

और एक दृष्टांत देखेंगे। समझो, एक कमरे में एक पीला बल्ब जलाया तो उसका प्रकाश उस पूरे कमरे में फैल जाता है। उसी कमरे में दूसरा नीले रंग का बल्ब जलाया तो उसका प्रकाश भी उस कमरे में सर्वत्र फैलेगा। यहाँ नीले और पीले प्रकाश ने एक दूसरे को अवगाहन दिया। तुम और एक प्रयोग करके देखना। एक ग्लास पूरा पानी से भर लो। उसमें और पानी डाले तो गिर जायेगा मगर उसमें राख डालने पर वह उसी में समा जायेगी। उसी में पिन्स अंदर घुस जायेगी। राख और पानी ने परस्पर अवगाहन दिया वे एक दूसरे में समा गये। इसतरह छहों द्रव्य परस्पर एक दूसरे को अवगाहन देते हैं। जिस आकाश के क्षेत्र (Space) में धर्म द्रव्य है, वहीं अधर्म द्रव्य है, वहीं असंख्यात काल द्रव्य हैं, वहीं अनंत जीव द्रव्य हैं और वहीं पर अनंतानंत पुद्गल द्रव्य भी हैं। कोई भी द्रव्य अपने लिए स्वतंत्र जगह की माँग नहीं करता। सब द्रव्य एकक्षेत्रावगाही होने पर भी याने एक ही जगह में रहते हुअे भी प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र है, प्रत्येक का अस्तित्व भिन्न-भिन्न है, प्रत्येक द्रव्य के अपने-अपने गुणधर्म कायम हैं।

एक जीव द्रव्य अन्य जीव द्रव्यों को अवगाहन देता है, एक पुद्गल परमाणु भी अन्य अनंत परमाणुओं को उतनी ही जगह में अवगाहन दे सकता है। ऐसा किसतरह कह सकते हैं? मालूम है? एक ही सिद्धशिला पर अनंत सिद्ध भगवान विराजमान हैं तो भी प्रत्येक का अस्तित्व याने सत्ता भिन्न भिन्न है। निगोद के एक शरीर में अनंत जीव रहते हैं फिर भी प्रत्येक जीव का अस्तित्व याने सत्ता भिन्न भिन्न है। इससे यह सिद्ध होता है जीवद्रव्य परस्परों को अवगाहन देते हैं। निगोद नाम सूक्ष्म एकेंद्रिय जीवों का है। उनकी विस्तृत जानकारी यहाँ नहीं लिखूंगी क्योंकि वह अलग विषय है।

अनादिकाल से ये छहों द्रव्य इकट्ठे रहने पर भी छह द्रव्यों में से सात द्रव्य नहीं हुअे या छहों द्रव्य मिलकर एक द्रव्य नहीं हुआ है, जीवद्रव्य पुद्गलद्रव्यरुप या अन्य द्रव्यरुप या अन्य जीवरुप नहीं हुआ है और ना ही अन्य कोई द्रव्य

जीवद्रव्यरुप हो गया है। इसलिए पृथ्वी, आप, तेज, वायु इत्यादि के संयोग से जीव उत्पन्न होता है यह मान्यता गलत साबित होती है।

सभी द्रव्य परस्पर को अवगाहन देते हैं तो भी अवगाहन शक्ति को आकाश द्रव्य का विशेष गुण बताया गया है। क्योंकि आकाश द्रव्य सब से बड़ा द्रव्य है और उसके छोटे से भाग में अन्य सब द्रव्य ठहरते हैं, समा जाते हैं। आकाश यह एक संपूर्ण अखंड द्रव्य है। उसके जिस भाग में अन्य पाँच द्रव्य रहते हैं या दिखाई देते हैं उसे लोकाकाश कहते हैं और लोकाकाश के बाहर का जो आकाश द्रव्य का विस्तार है उसे अलोकाकाश कहते हैं।

प्रत्येक द्रव्य का विस्तार कितना बड़ा है, यह बताने के लिए 'प्रदेश' नाप के रुप में एक इकाई है। प्रदेश को Smallest Unit of space or Area ऐसा कह सकते हैं। प्रत्येक द्रव्य कितना क्षेत्र घेरता है यह दर्शाने के लिए वह द्रव्य कितने प्रदेशी है यह बताया जाता है। पुद्गल परमाणु सब से छोटा है इसका दूसरा भाग नहीं हो सकता। यह एक प्रदेश रोकता है इसलिए परमाणु को एकप्रदेशी कहते हैं। अब इन प्रदेशों की संख्या से याने नाप से छह द्रव्य कितना क्षेत्र घेरते हैं अर्थात् वे कितने प्रदेशी हैं यह हम देखेंगे।

आकाश द्रव्य सब से बड़ा द्रव्य है, वह अनंतप्रदेशी है। लोकाकाश आकाशद्रव्य का ही भाग है वह असंख्यात प्रदेशी है। प्रत्येक जीव द्रव्य असंख्यात प्रदेशी है। जीवद्रव्य की यह विशेषता है कि जीव द्रव्य के प्रदेशों का संकोच - विस्तार हो सकता है। जीव के प्रदेशों का अधिक विस्तार संपूर्ण लोकाकाश जितना होता है (केवलि समुद्घात) और अधिक से अधिक संकोच सूक्ष्म निगोद शरीर जितना होता है। धर्मद्रव्य संपूर्ण लोकाकाश में फैला हुआ एक द्रव्य है इसलिए वह असंख्यात प्रदेशी है। अधर्मद्रव्य भी पूरे लोकाकाश में फैला हुआ है इसलिए वह भी असंख्यात प्रदेशी है। कालद्रव्य एकप्रदेशी है। लोकाकाश के जो असंख्यात प्रदेश हैं इसमें प्रत्येक प्रदेशपर एक-एक कालद्रव्य स्थित है। शास्त्रों में इसे रत्नों की राशि की भांति कहा है।

अब रह गया पुद्गल द्रव्य। वास्तव में देखा जाय तो पुद्गल का परमाणु द्रव्य है और वह एक प्रदेशी है; परंतु मात्र पुद्गल में ही ऐसी शक्ति है कि दो या अधिक या अनंत पुद्गल परमाणु इकट्ठे होकर उनका स्कंध बनता है और उसे भी 'पुद्गल' ऐसा कहते हैं। इस अपेक्षा से पुद्गल को एक प्रदेशी, बहु प्रदेशी और अनंत प्रदेशी कहते हैं। 'पुद्' याने जुड़ना और 'गल' याने बिखरना। उसके नाम से ही उसकी विशेषता समझ में आती है। और भी एक मज़े की बात है - जितनी जगह में एक पुद्गल परमाणु रहता है उसी एक प्रदेश में अनंत पुद्गल परमाणु रह सकते हैं - समा जाते हैं - एक दूसरे को अवगाहन देते हैं। इसीलिए तो लोकाकाश के असंख्यात प्रदेशों में अनंतानंत पुद्गल द्रव्य रहते हैं।

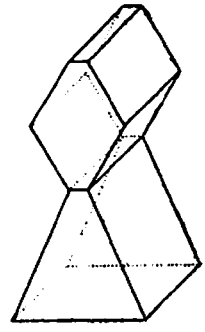

लोकाकाश का आकार तो हम सब को पता ही है। परंतु हम हमेशा चित्र में जैसा देखते हैं वैसा एक ही डायमेन्शन का नहीं है, वह तो घन है - Three Dimentional है। हम जिस आकृति से परिचित हैं, वह तो केवल लम्बाई - चौड़ाई दिखानेवाला चित्र है।

यहाँ जो चित्र दर्शाया है, लोकाकाश वैसा घनाकार है। उसकी उँचाई १४ राजू है; पूर्व-पश्चिम लंबाई नीचे ७ राजू, मध्य में १ राजू ऊपर ५ राजू और फिर सब से ऊपर एक राजू है। दक्षिणोत्तर मोटाई सर्वत्र ७ राजू है। इसतरह लोकाकाश का विस्तार ३४३ घनराजू है। अभी 'राजू' का नाप लिखना यहाँ उचित नहीं है; क्योंकि अपना विषय दूसरा चल रहा है।

लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर छहों द्रव्यों के प्रदेश परस्पर एक - दूसरे में समाये हुये हैं। देखो ना, लोकाकाश के प्रत्येक भाग में आकाश द्रव्य स्वयं तो है ही, उसी में जीव द्रव्यों के प्रदेश भी हैं, उसी में पुद्गल द्रव्य भी हैं, उसी में धर्म द्रव्य के प्रदेश, अधर्म द्रव्य के प्रदेश और काल द्रव्यों के प्रदेश भी हैं।

इन छहों में मात्र जीव द्रव्य ही जान सकता है - उसमें ज्ञान है, उसे चेतन द्रव्य कहा गया है। जीवद्रव्य को छोड़कर अन्य पांच द्रव्य अजीव हैं, अचेतन हैं - जड़ हैं। उनमें जानने की शक्ति नहीं है। जीव में ही ऐसा गुण है कि जो स्वयं को और अन्य को जान सकता है। जो जीव सर्वज्ञ हैं उनका ज्ञान पूर्ण विकसित होने के कारण सब द्रव्य उनके ज्ञान में झलकते हैं याने सर्वज्ञ सर्व द्रव्यों को एकसाथ जानते हैं।

इन छह द्रव्यों में मात्र पुद्गल द्रव्य ही रुपी है, अन्य पांच द्रव्य अरुपी हैं। स्पर्श, रस, गंध, वर्ण - ये पुद्गल द्रव्य के विशेष गुण हैं। इस पर से यह बात ख्याल में आती है कि हम जो कुछ देखते हैं, सुनते हैं, सूँघते हैं, स्पर्श से अनुभवते हैं - पांचों इंद्रियों से जो कुछ जानते हैं वह सब पुद्गल ही हैं; क्योंकि मात्र पुद्गल ही रुपी हैं। जीवद्रव्य, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और कालद्रव्य अरुपी हैं।

बेटी! तुम कहोगी की विश्व का स्वरुप जानने की व्यर्थ की मेहनत हम क्यों करें? तुम्हारा कहना सच है, क्योंकि आजकल के Busy Life में अपने लाभ के बारे में सोचना ही योग्य है, यही समझदारी है। परंतु विश्व को जाने बिना स्वयं को भी नहीं जान सकेंगे। इसकारण विश्व का जानना जरुरी है। जैसे कि - अपने बाप-दादा की बड़ी इस्टेट है, और वह सौ रिश्तेदारों में बट गयी हो तो हमारी दृष्टि अपने हिस्सेपर और अपने हिस्से में कितनी सम्पत्ति मिली, उसपर जायेगी न?

उसीतरह इस विश्व का स्वरुप जानकर इस में मेरा स्थान कहाँ है, मेरा विस्तार कितना बड़ा है, मेरा अधिकार क्या है? इसे हमें निश्चित करना होगा।

मैं कौन हूँ? - विश्म में जो अनंत जीवद्रव्य हैं उनमें से मैं एक जीवद्रव्य हूँ। मेरा वास्तव्य कहाँ है ? पूरे लोकाकाश में? नहीं। तो फिर कहाँ है? - वर्तमान में प्राप्त जो यह शरीर है वहीं पर मेरा (जीवद्रव्य का) वास्तव्य है, अस्तित्व है। अभी-अभी हमने समझा था कि इस जीवद्रव्य के प्रदेश जिस क्षेत्र में व्याप्त है वहींपर अनंत पुद्गलद्रव्य (कर्म, शरीर आदि) भी हैं। वहींपर आकाशद्रव्य, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य और कालद्रव्य भी हैं। जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और काल अरुपी होने से हमें दिखाई नहीं देते। मात्र पुद्गल ही दिखायी देता है, अनुभव में आता है। इसलिए वही मैं हूँ ऐसी सहज ही कल्पना होती है और प्राप्त शरीर ही मैं हूँ ऐसी भ्रांत धारणा होती है। पं. दौलतरामजी छहढाला में इस जीव की भूल के बारे में लिखते हैं -

तन उपजत अपनी उपज जान, तन नशत आपको नाश मान।

जरा सोचो, जीव अनादि से पुद्गल के संयोग में है मगर पुद्गलरुप नहीं हुआ। अपनी ही भूल से उसने वैसा माना है और उस कारण वह दुःखी है।

तो फिर हम क्या करें? सब छोड़ दें? नहीं। अपना अधिकार क्या है ? वह देखना है। हम कौन हैं, और हम क्या कर सकते हैं इसका पहले ज्ञान करना होगा। हम जान सकते हैं और अगर हमारी मान्यता गलत हो तो उसे ठीक कर सकते हैं। सर्व प्रथम इतना ही करना है।

मोना, कुछ महिनों बाद ही शादी होने के पश्चात् तुम ससुराल जाओगी। शुरुवात में नई दुल्हन को सब कहते हैं - 'रहने दो कोई काम नहीं करना।' इसके पीछे एक रहस्य है। घर के काम से छुट्टी पाकर T.V. देखने के लिए यह छूट नहीं है। परंतु घर के कामकाज किस पद्धति से करने चाहिए - ससुराल के रीतिरिवाज, पद्धति क्या हैं यह ध्यान से देखने - सीखने के लिए यह Training Period होता है। अपना काम तो करना ही है, अपना काम हम नहीं करेंगे तो हमारा काम कौन करेगा ? इसलिए उसके बारे में योग्य ज्ञान पहले करना होगा।

तद्वत् हमें धर्म प्रगट करना है तो उसके लिए सब से पहले तत्त्वों का ज्ञान करना होगा, तत्त्वज्ञानपूर्वक गलत मान्यता को सही करना होगा।

विश्व का स्वरुप अति संक्षेप में हमने देखा। अधिक चर्चा अगले पत्र में करेंगे।

तुम्हारी माँ

पत्रांक ६ २० नवम्बर १९९३

द्रव्य का स्वरुप

प्रिय रीना एवं मोना,

अनेक उत्तम शुभाशीर्वाद।

बिटिया! द्रव्य, गुण, पर्याय सर्व सिद्धांतों की नींव है। इन्हें समझे बिना शास्त्र में प्रवेश ही नहीं हो सकता। अतः हमें सब से पहले इसी की जानकारी लेनी है। इसका बारंबार वाचन और अभ्यास करना चाहिए। जिसे द्रव्य, गुण, पर्याय समझ में आ जाते हैं, वह सब शास्त्रों का अर्थ समझने लगता है; फिर उसे शास्त्रों का यथार्थ अर्थ समझने में कोई कठिनाई नहीं होती।

हमने गत पत्र में संक्षिप्त में विश्व का स्वरुप समझा। जहाँ जीवादिक सब द्रव्य दिखाई देते हैं वह लोक है। 'लोक' इस शब्द का अर्थ होता है देखना। अवलोकन करना शब्द इसी लोक शब्द से तैयार हुआ है, उसका भी अर्थ देखना ऐसा होता है।

ये सब द्रव्य नित्य हैं। इनका कभी नाश नहीं होता। तथा जितने हैं उतने ही रहते हैं, घटते बढते नहीं हैं नवीन उत्पन्न भी नहीं होते। इनकी आदि नहीं है अर्थात् वे अनादि हैं और उनका नाश नहीं होता, अंत नहीं होता अर्थात् अनंत हैं। सभी द्रव्य अनादि अनंत होने से उनके समूह से बना हुआ यह विश्व भी अनादि अनंत है।

इसे जानने से हमें सबसे बड़ा लाभ यह होता है कि नाश के भय से हम निर्भय हो जाते हैं। "इस जगत का नाश होगा, कुछ करोड वर्षों के बाद पृथ्वी का नाश होगा" आदि बातें सुनकर हमें भय लगता है। उससे निर्भय हो जाते हैं। "अरे! मैं भी मरूँगा, मेरा नाश होगा" इस विचार से जो हमारी नींद हराम हो जाती है; विश्व का अविनाशी स्वरुप जानने से इन आकुलताओं का अभाव होता है।

जरा सोचो तो सही, विश्व का स्वरुप जानने पर भी हमें बहुत लाभ हो गया है। मैं एक अनादि अनंत जीवद्रव्य हूँ और मेरा कभी भी नाश नहीं होगा यह समझते ही कितनी शांति अनुभव में आती है। मेरा कोई रक्षणकर्ता नहीं है और संहारकर्ता भी नहीं है यह समझते ही सब हीनदीनपना नष्ट हो जाता है।

विश्व का स्वरुप सर्वज्ञ ने स्वयं जाना और उसका कथन किया। वह कथन शास्त्रों द्वारा हमने जाना। इसका अर्थ यह हुआ कि सर्वज्ञ ने जो प्रत्यक्ष जाना उसे हमने परोक्ष रीति से जाना अर्थात् हम भी अरहंत-सिद्ध के जाति-कुल के चेतनमय

ज्ञानमय हैं यह सिद्ध हुआ। ऐसा होनेपर ज्ञान की और स्वकी महिमा आये बिना नहीं रहती।

विज्ञान में ऐसा सिद्धांत है कि Matter is always constant. It is never destroyed. It only changes its form. ' Matter ' अर्थात् पुद्गल के बारे में यह कथन है; क्योंकि वैज्ञानिकों ने अब तक मात्र पुद्गल का ही अभ्यास किया है। जो बात एक द्रव्य के बारे में सच है वही सब द्रव्यों के बारे में सच है कि सब द्रव्य नित्य हैं, द्रव्य का कभी नाश नहीं होता मात्र उनकी अवस्थायें बदलती हैं।

रीना, स्कूल में तुमने 'शोभादर्शक यंत्र' - कॅलिडियोस्कोप बनाया था, याद है? उसमें रंगीन कांच के टुकडे डालकर बंद कर दिया था। शोभादर्शक जैसे-जैसे घुमाते थे वैसे-वैसे नये-नये आकार - अनेक आकृतियाँ combinations उसके अंदर बनती हुई दिखायी देती थी। तद्वत् ही द्रव्य जितने थे उतने ही हैं, नित्य ही हैं उनकी अवस्थायें सतत नयी-नयी होती हैं।

हमें दृश्यमान चीजों की विविध रचनायें, उनकी नयी उत्पत्ति और उनके विनाश ये सब दिखायी देते हैं। वे उत्पत्ति और विनाश अवस्थाओं के हैं, द्रव्यों के नहीं। द्रव्य कायम टिकते हैं और मात्र उनकी अवस्थायें बदलती हैं।

'द्रव्यों के समूह को विश्व कहते हैं' यह समझने के बाद सहज ही मन में प्रश्न उठता है कि द्रव्य किसे कहते हैं? 'गुणों के समूह को द्रव्य कहते हैं'। द्रव्य के अन्य नाम - पदार्थ, वस्तु, अर्थ, चीज आदि हैं। विश्व की परिभाषा में 'द्रव्यों का समूह विश्व है ' ऐसा कहा था, वहाँ द्रव्यों का एक दूसरे से एकक्षेत्रावगाह संबंध था। अब द्रव्य की परिभाषामें जो 'गुणों का समूह' ऐसा कहा है उसमें गुणों का द्रव्य से नित्यतादात्म्य संबंध होता है और गुणों का एक दूसरे से अविनाभावी संबंध होता है। एकक्षेत्रावगाह संबंध के बारे में हमने गत पत्र में विस्तार से जान ही लिया है। नित्यतादात्म्य संबंध क्या है ? उसके बारे में अब विचार करेंगे। नित्य याने कायम, सदैव। तादात्म्य याने एकरुपता - जो कभी भिन्न नहीं होता। गुणों का द्रव्य के साथ नित्यतादात्म्य संबंध है अर्थात् द्रव्य से गुण कभी भी भिन्न नहीं हो सकते।

जैसे उष्णता अग्नि का गुण है उसे अग्नि से भिन्न नहीं कर सकते। मिठास शक्कर का गुण है उसे शक्कर से भिन्न नहीं कर सकते। ठीक उसीतरह गुण कभी भी द्रव्य से भिन्न नहीं हो सकते।

गुणों का एक दूसरे से अविनाभावी संबंध होता है अर्थात् जहाँ एक गुण है वहाँ उस द्रव्य के अन्य गुण हैं ही। जैसे, शक्कर में सफेदी और मिठास गुण हैं तो सफेदी और मिठास इनका अविनाभावी संबंध है। उन दोनों को अलग नहीं कर सकते। सोने में पीलापना और वजनपना गुण हैं। उनका एक दूसरे से अविनाभावी

संबंध है। पुद्गल द्रव्य के स्पर्श, रस, गंध, वर्ण आदि गुणों का आपस में अविनाभावी संबंध है। जहाँ एक गुण है वहीं अनंत गुण हैं। इनके इस समूह को ही द्रव्य कहते हैं। ये गुण द्रव्य से अलग नहीं हो सकते और ना ही नये गुण द्रव्य में जोड़े जा सकते हैं। द्रव्य में जितने अनंत गुण हैं उतने ही रहते हैं। जितने अनंत गुण अरिहंत-सिद्धों में हैं उतने ही अनंत गुण प्रत्येक जीव द्रव्य में हैं। तुम्हारे में और मुझमें भी अनंत गुण हैं। परमाणु में भी अपने-अपने अनंत गुण हैं। प्रत्येक द्रव्य स्वयं में परिपूर्ण है।

ये गुण सामान्य और विशेष ऐसे दो प्रकार के होते हैं। सामान्य अर्थात् जो सब द्रव्यों में पाये जाते हैं। प्रत्येक द्रव्य के अपने-अपने स्वतंत्र ऐसे सभी द्रव्यों में पाये जानेवाले अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशत्व आदि अनेक सामान्य गुण हैं। जो गुण सब द्रव्यों में न रहकर किसी विशिष्ट द्रव्य में पाये जाते हैं, उन्हें 'विशेष गुण' कहते हैं। सामान्य गुणों के द्वारा द्रव्य की सिद्धि होती है और विशेष गुणों के द्वारा वह कौनसा विशिष्ट द्रव्य है यह पहचाना जा सकता है।

जैसे, स्पर्श, रस, गंध, वर्ण आदि पुद्गल द्रव्य के विशेष गुण हैं। जिस द्रव्य में ये गुण पाये जाते हैं वह पुद्गल द्रव्य है ऐसा हम पहचान सकते हैं।

ज्ञान, दर्शन सुख, चारित्र, वीर्य आदि जीव द्रव्य के विशेष गुण हैं। इसलिए जिस द्रव्य में ज्ञानादि गुण पाये जाते हैं वह जीव द्रव्य है, ऐसा हम पहचान सकते हैं। सुख भी जीव द्रव्य का (आत्मा का) विशेष गुण है। वह जीव द्रव्य में ही है, अन्य द्रव्यों में नहीं है। पुद्गल द्रव्य में सुख नाम का गुण ही नहीं है। फिर भी हम अज्ञानी जन तो पूरी जिंदगी सुख पाने के लिए धनसंपत्ति, घरबार आदि पुद्गल द्रव्य के संग्रह में ही लगे रहते हैं। मानो सारा सुख इन्हीं में भरा हो।

विश्व में जाति अपेक्षा छह द्रव्य हैं उनके विशेष गुणों द्वारा उनका स्वरुप देखते हैं।

जीव – जिसमें ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सुख, वीर्य, क्रियावती शक्ति आदि विशेष गुण पाये जाते हैं, वह जीव द्रव्य है।

पुद्गल – जिसमें स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, क्रियावती शक्ति आदि विशेष गुण पाये जाते हैं वह पुद्गल द्रव्य है। जीव को स्पर्श, रस, गंध, वर्ण आदि गुणों का ज्ञान होता है, परंतु जीव में ये कोई भी गुण नहीं हैं। जीव और पुद्गल इन दोनों द्रव्यों में क्रियावती शक्ति है, उस शक्ति के कारण जीव और पुद्गल या तो गमन करते हैं या स्थिर रहते हैं। गमन करना या स्थिर रहना क्रियावती शक्ति का कार्य है। अन्य चार द्रव्यों में यह गुण नहीं है। अन्य चार द्रव्य अनादि से स्थिर ही हैं। उनका गमन या हलन-चलन नहीं होता।

धर्मद्रव्य – स्वयं गमन करते हुये जीव और पुद्गलों को गमन करने में जो निमित्त होता है उसे धर्मद्रव्य कहते हैं। धर्मद्रव्य जबरदस्ती गमन नहीं कराता, वह मात्र गमन में अनुकूल रहता है। जैसे, स्वयं गमन करते हुअे मछली को पानी अनुकूल रहता है। कुअे का पानी स्वतः स्थिर है, मगर मछली को गमन में निमित्त होता है। वैसे धर्मद्रव्य स्वयं स्थिर है मगर जीव और पुद्गलों को गमन में अनुकूल रहता है। 'गतिहेतुत्व' धर्मद्रव्य का विशेष गुण है।

अधर्मद्रव्य – गमनपूर्वक स्थिर होनेवाले जीव और पुद्गलों को स्थिर होने में जो निमित्त होता है वह अधर्मद्रव्य है। जैसे, पथिक को वृक्ष की छाया ठहरने में निमित्त होती है। वैसे गमन करता हुआ जीव या पुद्गल स्वयं स्थिर होता है, तब अधर्मद्रव्य उसे स्थिर होने में अनुकूल रहता है। इसलिए 'स्थितिहेतुत्व' अधर्मद्रव्य का विशेष गुण है।

आकाशद्रव्य – सभी द्रव्यों को अवगाहना देना अर्थात् ठहरने के लिए जगह देना आकाश द्रव्य का विशेष गुण है। इसे 'अवगाहनहेतुत्व' कहते हैं। हमें जो नीला-नीला आकाश दिखायी देता है, वही आकाश द्रव्य है ना? नहीं, बिलकुल नहीं; क्योंकि जो दिखायी देता है, जिसमें वर्ण है, वह तो पुद्गल द्रव्य है। पुद्गल को छोड़कर अन्य पाँच द्रव्य तो अरुपी हैं, अमूर्तिक हैं। हम जिसे Space कहते हैं, अवकाश कहते हैं वह आकाशद्रव्य है। इसका अनंत विस्तार है, इसका अंत ही नहीं है। आकाश द्रव्य के मध्य में जहाँ छहों द्रव्य रहते हैं, उसे लोकाकाश कहते हैं और उसके सभी ओर अनंत-अनंत अलोकाकाश है। वर्तमान में वैज्ञानिकों को ज्ञात जो ग्रह, तारा, नक्षत्र, सूर्य आदि हैं वह तो लोकाकाश के एक छोटे से हिस्से में हैं।

आकाश द्रव्य अन्य द्रव्यों को अवगाहन देता है इसका अर्थ वह उन वस्तुओं के (द्रव्यों के) सिर्फ इर्द-गिर्द रहता है - ऐसा नहीं है। सब द्रव्यों के आर-पार आकाशद्रव्य व्याप्त है। यदि हम लोहे का घन देखेंगे तो वह आकाशद्रव्य में है और आकाशद्रव्य उसके अंदर और बाहर सर्वत्र व्याप्त है। वैसे देखा जाये तो छहों द्रव्य एक दूसरे को अवगाहन देते हैं। अर्थात् एक ही जगह में रहते हैं, उनमें परस्पर एकक्षेत्रावगाह संबंध है।

कालद्रव्य – लोकाकाश में असंख्यात प्रदेश हैं। इसमें प्रत्येक प्रदेशपर एक एक कालद्रव्य स्थित है। सभी द्रव्यों के परिणमन में निमित्त होना (परिणमन हेतुत्व) कालद्रव्य का विशेष गुण है। हमें जो क्षण, मिनिट, घंटा, दिन, महिना, काल (Time) समझ में आता है उसे व्यवहारकाल कहते हैं। कालद्रव्य की एक पर्याय को समय कहते हैं, ऐसे असंख्यात समयों का एक सैकण्ड बनता है।

इसतरह गुणों के द्वारा द्रव्य को पहचाना जाता है। तत्त्वों की भाषा में गुण लक्षण है और द्रव्य लक्ष्य है। जैसे, ज्ञान यह लक्षण है और आत्मा लक्ष्य है।

जिसमें ज्ञान है वही आत्मा है। आत्मा को जानना है तो लक्षण द्वारा जानना होगा, अनुभवना होगा दूसरा कोई भी उपाय नहीं है। भगवान की पूजा करने से, उपवास करने से, लाखों रुपया दान देने से आत्मा का अनुभव नहीं होगा। परंतु जहाँ ज्ञान लक्षण है वहाँ दृष्टि करने से, वहाँ उपयोग केंद्रित करने से, अंतर्मुख होकर चेतना लक्षण द्वारा जानने से ही आत्मा अनुभव में आ सकता है। तत्त्वों के बारे में ऐसा कथन सुनने से मन में ऐसा विचार आता है कि तो फिर पूजा, दया, दान आदि सब व्यर्थ ही है क्या? क्या इन्हें छोड़ दें? जैसा वस्तु का स्वरुप है, जानना तो वैसा ही है, श्रद्धा में भी वैसा ही मानना है। जिसे तत्त्वों का अभ्यास है, उसे तो तत्त्व का निरुपण करनेवाले सर्वज्ञ के प्रति (अतीव) परम भक्तिभाव आये बिना नहीं रहता।

अतः समाधान यह है कि पूजा, स्वाध्याय, दान आदि छोड़ने का तो प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता उन्हें तो और अधिक भक्ति का भाव आता है। वे अधिकाधिक समय और धन खर्च करते हुअे दिखायी देते हैं। आजकल के जमाने में तो धन देना आसान है, मगर समय देना मुश्किल हो गया है; क्योंकि ऐसी बातों के लिए समय देने के लिए हमारे पास समय ही कहाँ बचता है? फिर भी तत्त्व रुचिवाले धन व समय दोनों देते हैं।

आगम का यह अभ्यास करते हुअे शुरु-शुरु में समझने में अनेक भ्रांतियाँ होती हैं। जीवद्रव्य के गुणधर्म क्या हैं? यह जानते हुये बीच में ही मनुष्य व्यवहार करें या न करें ऐसे प्रश्न उठते हैं। यह प्रश्न ऐसा हास्यास्पद है जैसा कि हम जब ऑक्सिजन के गुणधर्म पढ़ते हैं कि वह वायुरुप है, ज्वलन में मदद करता है, तब यदि कोई कहे कि पानी तो द्रवरुप है, वह तो आग बुझाता है यह कैसे? पानी को भी ऑक्सिजन की भांति ज्वलनशील होना चाहिए। यह प्रश्न जैसे हास्यास्पद है, वैसा ही तुम्हारा पूजा-अर्चा, दान, स्वाध्याय छोड़ देनेवाला प्रश्न है। हमने अपने आपको जीवद्रव्य न मानकर मनुष्य ही मानकर उस मनुष्य पर्याय जितना ही माना है इसलिए ऐसा प्रश्न उठता है।

आगम का याने तत्त्वों का अभ्यास करके हमें सर्व प्रथम तत्त्वनिर्णय करना है। ये सर्वज्ञ कथित तत्त्व ऐसे ही हैं, इसप्रकार से परीक्षाप्रधानी बनकर अपनी बुद्धि के कसौटी पर कसना होगा। यह सब निर्णय विचारों में करना है, बुद्धि का यह काम है। षोडशकारण पूजा में लिखा है कि -

'ज्ञानाभ्यास करें मनमांहि। ताकों मोह महातम नाहीं।'

जिसके विचारों में तत्त्वों का चिंतन चलता रहता है उसके आचरण में स्वच्छंद पापक्रियायें नहीं होती। धर्म क्या है, पुण्य क्या है, पाप क्या है यह समझे बिना हम क्या कर रहे हैं और उसका फल क्या होगा? यह समझ में नहीं आ सकता।

आगम के द्वारा, शास्त्राभ्यास के द्वारा हमें अपनी पहचान करनी है। विश्व में अनंत द्रव्य हैं, उनमें से मैं एक स्वतंत्र परिपूर्ण द्रव्य हूँ और मुझमें (प्रत्येक में) अनंत गुण हैं यह हमने जाना। परंतु ध्यान रहे, जीवद्रव्य अरुपी होने से इसके अनंत गुण भी अरुपी हैं अतः हमें दिखायी नहीं देते। मगर घबराने की कोई आवश्यकता नहीं है; क्योंकि अरुपी होनेपर भी यह 'चेतन' द्रव्य है, ज्ञान उसका गुण है। देखो न! ये शब्द पढ़कर कौन जान रहा है? - जीव। पंद्रह वर्ष पहले की याद किसके द्वारा होती है? - ज्ञान के द्वारा। ज्ञान किसका? - जीव का। अमुक विशिष्ट बात कठिन है, समझ में नहीं आती, यह कौन जानता है? - ज्ञान अर्थात् जीव।

यह ज्ञानगुण हर क्षण जानने का कार्य करता रहता है। नींद में भी? हाँ, हाँ नींद में भी! तुम नहीं कहती हो कि आज मुझे नींद ठीक नहीं आयी या आज मुझे गहरी नींद आयी? तो फिर इसे किसने जाना? - ज्ञान गुण ने।

दिनरात ज्ञान गुण हमें बता रहा है कि यह मैं यहाँ हूँ। जहाँ यह ज्ञान गुण है, वहीं अन्य अनंत गुण अविनाभावी संबंध के कारण हैं ही। जहाँ ज्ञानादि सर्व गुण हैं, उसे ही जीवद्रव्य कहा है। तो फिर हो गयी ना जीव द्रव्य की सिद्धि?

विश्व और द्रव्य के बारे में हमने जाना। गुण और पर्याय की जानकारी लेने पर द्रव्य का स्वरुप अधिक स्पष्ट होगा।

मोना, तुमने जयपूर शिविर के बारे में पूछा था। वहाँ रोज प्रातः पांच बजे से रात्री दस बजे तक आठ-दस घण्टे प्रवचन, क्लास, पूजन-विधान, भक्ति, रोज अभ्यास और अंत में परिक्षायें ऐसा हमारा कार्यक्रम था। बाहर गांवसे ८५० लोग और जयपूर निवासी दो तीन हजार लोग उपस्थित रहते थे। इन शिबिरों में अनेक विद्वान तथा नये आत्मार्थी भाई-बहने भी शामिल होते हैं। तत्त्वों का सूक्ष्म अभ्यास भी यहाँ चलता है। मैंने तत्त्वज्ञान पाठमाला, नयचक्र और गुणस्थान प्रवेशिका इन तीनों विषयों की परीक्षा दी थी। उनमें ९६%, ९६% और १००% मार्क्स प्राप्त करके तीनों में ही प्रथम क्रमांक हासिल किया। सबने आश्चर्यसहित सराहा और अभिनंदन किया। फिरसे कॉलेज के दिनों की याद आयी।

अधिक अगले पत्र में लिखूँगी।

तुम्हारी माँ

पत्रांक ७ १८ अप्रैल १९९४

गुण का स्वरुप

प्रिय रीना एवं मोना,

अनेक उत्तम शुभाशीर्वाद।

मोना, तुम्हारी शादी को दो महिने हो गए। तुम्हारी शादी में हमने सबको भेटस्वरुप दी हुअी किताबे - संस्कार, बिदाई की बेला, आप कुछ भी कहो, णमोकार महामंत्र, सामाव्य श्रावकाचार (सभी मराठी भाषा में) तुमने पढ़ी या नहीं? तुम्हारे दादा ने (पिताजी ने) और भी चार - पाच पुस्तकों का मराठी अनुवाद करके जयपूर भेज दिया है। छपने पर तुम दोनों को दूँगी ही।

पत्र क्र. ५ और ६ में हमने विश्व का और द्रव्य का स्वरुप देखा था। शादी की धूमधाम में बहुत दिन बीत गये इसलिए फिर से थोड़ा याद कर लेते हैं। छह द्रव्यों के समूह को विश्व कहते हैं। इस विश्व में एक आकाशद्रव्य, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, अनंत जीवद्रव्य, अनंतानंत पुद्गलद्रव्य और असंख्यात कालद्रव्य हैं। आकाश द्रव्य के मध्य में जिस क्षेत्र में सब द्रव्य पाये जाते हैं उसे 'लोक' कहते हैं। इन सब अनंतानंत द्रव्यों का प्रत्येक का अपना स्वतंत्र अस्तित्व है। दो द्रव्य मिलकर कभी भी एक नहीं होते या एक द्रव्य से दो या अधिक द्रव्य भी उत्पन्न नहीं होते। ये सब द्रव्य एकक्षेत्रावगाही हैं अर्थात् एकही क्षेत्र (Space) में रहते हैं। एक दूसरे को अवगाहन देते हैं, समा लेते हैं फिर भी एकमेक नहीं होते।

ये सभी द्रव्य अनादिअनंत हैं। किसी भी द्रव्य का कभी भी नाश नहीं होता और उनकी नयी उत्पत्ती भी नहीं होती।

गुणों के समूह को द्रव्य कहते हैं। प्रत्येक द्रव्य अनंत गुणात्मक है। द्रव्य और गुण में नित्यतादात्म्य संबंध है। अर्थात् गुण द्रव्य से अलग नहीं हो सकते। द्रव्य में जो अनंत गुण हैं उनका एक दूसरे से अविनाभावी संबंध है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जहाँ एक गुण है वहाँ उस द्रव्य के अन्य सभी अनंत गुण हैं, हैं और हैं ही। शास्त्र में 'ज्ञानमात्र आत्मा' ऐसा एक गुण की अपेक्षा से कथन करने पर भी आत्मा के अनंत गुण उसमें समाविष्ट हैं ऐसा जानना चाहिए।

आज हमें गुणों का स्वरुप क्या है इसके बारे में समझना है। गुण किसे कहते हैं इस प्रश्न का उत्तर है - 'जो द्रव्य के संपूर्ण भागों में और उसकी संपूर्ण अवस्थाओं में रहता है उसको गुण कहते हैं।' द्रव्य में जो अनंत गुण हैं, उनमें से प्रत्येक गुण द्रव्य के संपूर्ण क्षेत्र में फैला हुआ है, संपूर्ण क्षेत्र में व्याप्त है। तात्पर्य

यह है कि जितना बड़ा द्रव्य है उतना ही बड़ा उस द्रव्य का प्रत्येक गुण है। जैसे, सोना यह एक द्रव्य है ऐसा उदाहरण के लिए समझेंगे। उसमें पीलापना, वजनपना, चमकीलापना ये गुण हैं। पीलापना यह गुण संपूर्ण सोने में है, वजनपना यह गुण भी संपूर्ण सोने में है, चमकीलापना भी संपूर्ण सोने में है।

मिसरी में मिठास यह गुण मिसरी के संपूर्ण भागों में है, वैसा सफेदी यह गुण भी मिसरी के संपूर्ण भागों में है, उसीतरह कठिनपना यह गुण भी मिसरी के संपूर्ण भागों में रहता है।

जीवद्रव्य असंख्यात प्रदेशी है। उसका ज्ञान गुण संपूर्ण असंख्यात प्रदेशों में रहता है, उसका सुख गुण भी संपूर्ण असंख्यात प्रदेशों में रहता है, उसका अस्तित्व गुण संपूर्ण असंख्यात प्रदेशों में रहता है। हमें लगता है मस्तिष्क में ज्ञान है और हृदय में सुख, परंतु वास्तव में वैसा नहीं है।

एक ही क्षेत्र में ये जो अनंत गुण रहते हैं उन्हीं को द्रव्य संज्ञा है। गुणों के ऊपर कोई आवरण डालकर द्रव्य बना हो ऐसा नहीं है। थैली में गेहूँ जैसे भी द्रव्य में गुण नहीं है। द्रव्य को गुणों का पिंड अथवा पुंज कहा है। जैसे उष्णता, दाहकता और प्रकाश गुण जहाँ हैं, उसीको अग्नि कहते हैं। ऐसा नहीं है कि अग्नि भिन्न है और उष्णता भिन्न। ऐसा भी नहीं होता कि अग्नि के अमुक भाग में उष्णता है और अन्य भाग में प्रकाश। गुण और द्रव्य भिन्न नहीं हैं। अनंत गुणों के पुंज अथवा पिंड को ही एक नाम दिया है 'द्रव्य'। गुणों का समूह होने से द्रव्य को 'गुणी' ऐसा भी कहा जाता है।

तुम कहोगी, 'जब भिन्न हैं ही नहीं तब दो अलग-अलग नाम दिये ही क्यों? इतने अनंत गुण कहे ही क्यों? मात्र द्रव्य का नाम ही बताना था।' क्योंकि जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल - ऐसे भिन्न-भिन्न छह नाम हैं, इसका अर्थ ही यह निकलता है कि उन द्रव्यों में अपनी - अपनी विशेषता, अपने - अपने गुणधर्म भिन्न - भिन्न हैं। अन्यथा उनका इसतरह वर्गीकरण नहीं कर सकते थे। ये गुणधर्म ही गुण हैं। गुणों के दूसरे नाम हैं - शक्ति, धर्म, अंत, भाव, अर्थ।

अब तक हमने गुण की आधी ही परिभाषा देखी है कि गुण द्रव्य के संपूर्ण भागों में रहता है। परंतु मात्र इतना ही कहने से काम नहीं चलेगा। उस परिभाषा का एक हिस्सा और है कि 'गुण द्रव्य के संपूर्ण अवस्थाओं में रहता है।' द्रव्य की कोई भी अवस्था क्यों न हो, उसके सब अनंत गुण उसमें कायम रहते हैं।

जैसे सोने में पीलापना, भारीपना, चमकीलापना गुण हैं वे उसके संपूर्ण भागों में तो रहते ही हैं, परंतु उस सोने की 'हार' आदि सम्पूर्ण अवस्थाओं में भी कायम रहते हैं।

हम अपने स्वद्रव्य का विचार करेंगे। मैं एक जीवद्रव्य हूँ। मुझमें अनंत गुण हैं। वे मेरे सब असंख्यात प्रदेशों में रहते हैं, पूर्ण व्याप्त हैं और मेरी किसी भी अवस्था में वे अनंत ही रहेंगे। जीव किसी भी अवस्था में हो - अतिसूक्ष्म एकेंद्रिय अवस्था हो या सिद्ध अवस्था हो, प्रत्येक जीव में अनंत गुण सदा ही विद्यमान हैं। गुण कभी भी कम या अधिक नहीं होते। गुणों की परिभाषा समझने पर हम निश्चिंत (चिंतारहित) हो जाते हैं। हमें परीक्षा में अधिकाधिक गुण (अंक) कैसे प्राप्त हो - इसकी हम दिनरात चिंता करते हैं। भले मार्ग से (अभ्यास से) या बुरे मार्ग से (कॉपी करके) गुण बढ़ाने के चक्कर में हर व्यक्ति व्यस्त रहता है। मगर द्रव्य के बारे में वैसी चिंता नहीं है।

धन के बारे में भी वही हाल है। अपने पास थोड़ा बहुत धन होगा तो निरंतर चिंता रहती है कि कोई चुरा तो न लेगा? यह धन कैसे बढ़ेगा? इसे बैंक में डाले या शेअर्स खरीदे? द्रव्य और गुण का स्वरुप ख्याल में आते ही सब आकुलता नष्ट हो जाती है , कारण कि द्रव्य से गुण कोई निकाल कर नहीं ले सकता तद्वत् ही गुण बढ़ाने की भी कोई चिंता नहीं रहती।

गुण की परिभाषा के साथ-साथ आज हम एक नयी बात समझेंगे - 'स्वचतुष्टय'। प्रत्येक वस्तु का याने द्रव्य का अपना चतुष्टय अर्थात् चार बातें सदा होती हैं। वे हैं - द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। द्रव्य शब्द का अर्थ तो अब हम जानते हैं। क्षेत्र का अर्थ है द्रव्य जितनी जगह घेरता है। आजकल हम घर खरीदते समय उसका क्षेत्रफल Area कितना है यह देखते हैं। परंतु वहाँ तो Carpet Area, Built Area, Super Built Area और न जाने क्या क्या बातें होती हैं। मगर द्रव्य के बारे में ऐसी कोई उलझन नहीं है। द्रव्य के अनंत गुण जितनी जगह में रहते हैं उतना उस द्रव्य का क्षेत्र है। एक ही घर में रहने वाले अनेक सदस्यों के कमरे अलग-अलग होते हैं। मगर द्रव्य में गुणों के बारे में वैसा नहीं होता। जितना क्षेत्र एक गुण व्यापता है उतना ही - वही क्षेत्र-दूसरा गुण व्यापता है। और वही क्षेत्र सर्व अनंत गुण व्यापते हैं। जो क्षेत्र द्रव्य का है वही क्षेत्र उसके गुणों का है । जैसे - सोना जितना बड़ा है उतने ही क्षेत्र में उसके गुण - पीलापना, भारीपना, चमकीलापना आदि हैं।

स्वचतुष्टय में से द्रव्य और क्षेत्र का ज्ञान होने के उपरान्त अब हम काल और भाव के बारे में समझेंगे। काल याने परिणमन। द्रव्य की विशिष्ट अवस्था, पर्याय। इसके बारे में विस्तृत चर्चा हम आगामी पत्र में करेंगे। भाव अर्थात् गुण इसकी चर्चा तो हम कर ही रहे हैं।

प्रत्येक द्रव्य का अपना स्वतंत्र स्वचतुष्टय होता है। अर्थात् प्रत्येक द्रव्य का स्वयं का अपना द्रव्य (स्वद्रव्य), अपना क्षेत्र (स्वक्षेत्र), अपना परिणमन (स्वकाल)

और अपने गुण याने भाव (स्वभाव) होता है। गुण की जो परिभाषा है उसमें से यह चतुष्टय सिद्ध कर सकते हैं। गुण की परिभाषा है, 'जो द्रव्य के (द्रव्य) संपूर्ण भागों में (क्षेत्र) और उसकी संपूर्ण अवस्थाओं में (काल) रहते हैं उन्हें गुण (भाव) कहते हैं।

इसपरसे यह सिद्धांत निकलता है कि प्रत्येक द्रव्य का स्वचतुष्टय भिन्न-भिन्न है अर्थात् प्रत्येक द्रव्य का अस्तित्व भिन्न-भिन्न है, स्वतंत्र है। इस सिद्धांत से 'जीव अनंत में विलीन हो जाता है ' इस अन्यमती की कल्पना का निराकरण हो जाता है। सिद्ध अवस्था में भी प्रत्येक जीवद्रव्य स्वतंत्र है, प्रत्येक का द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव भिन्न - भिन्न है।

शक्कर का डिब्बा देखो। उस डिब्बे का स्वद्रव्य डिब्बे में, उसका स्वक्षेत्र डिब्बे में, उसका स्वकाल डिब्बे में और उसका स्वभाव डिब्बे में हैं। इसीतरह शक्कर का स्वद्रव्य शक्कर में, शक्कर का स्वक्षेत्र शक्कर में, शक्कर का स्वकाल शक्कर में और शक्कर का स्वभाव शक्कर में है। आज मैं तुम्हें गृहकार्य दे रही हूँ। प्रतिदिन १० - १० वस्तुओं के स्वचतुष्टय भिन्न-भिन्न ढूँढकर लिखो। जैसे, कागद और उसपर जो स्याही के अक्षर हैं उसमें कागद का स्वचतुष्टय भिन्न है और स्याही का स्वचतुष्टय भिन्न है। ऐसा करने से क्या लाभ है? ऐसा करने से जीव की कर्ताबुद्धि के मूलपर प्रहार होता है। हमें लगता है कि मैंने कितने सुंदर अक्षर लिखे हैं। परंतु तत्त्वाभ्यास की दृष्टि से उसकी तरफ देखेंगे तो पता चलता है कि कागद का स्वचतुष्टय भिन्न है, स्याही का स्वचतुष्टय भिन्न है और मेरा याने जीवद्रव्य का स्वचतुष्टय भिन्न है।

द्रव्य, गुण, पर्याय व उनका स्वरुप यह अत्यंत सुंदर विषय है। संपूर्ण आगम और अध्यात्म का रहस्य और उसका समाधान इन सिद्धांतों में हैं। स्कूल में गणित विषय में भूमिती के Riders सुलझाते हुअे या पहेलियाँ बुझाते समय बुद्धि को जैसे गति मिलती है, वैसा ही यहाँ पर होता है।

कथा, कादंबरी, निबंध, प्रबंध आदि साहित्य का आस्वाद लेना हो तो पहले भाषा का ज्ञान जरुरी है। तद्वत् ही अध्यात्म एक अत्यंत रसपूर्ण विषय है। उसका आस्वाद लेना हो - रस चखना हो तो सब से पहले इन सीधे सरल सिद्धांतों को जानना जरुरी है। इस एक-एक सिद्धांत के ऊपर अगला-अगला सिद्धांत बताया जाता है - सिद्ध किया जाता है, Logically prove किया जाता है।

बेटा, सच कहूँ? पढ़ाई चलती है तब तक बुद्धि को बड़ा आव्हान मिलता है। हम नित्य नया पढ़ते हैं, आत्मसात करते हैं। व्यवसाय में जुड़ने पर बुद्धि में मंदता आती है। थोड़ी बहुत बुद्धि व्यवसाय के लिए लगती है, बाकी बची बुद्धि पैसा और अधिकार बढ़ाने में खर्च होती है। फिर भी समाधान नहीं होता।

आगम और अध्यात्म का यह विषय सचमुच में बड़ा रसप्रद है। बुद्धि को तो आव्हान (उत्तेजना) है ही, मानसिक शांति भी बढ़ती है। हमें अपने परिवार की बातों की ओर शास्त्रीय तत्त्व की दृष्टि से देखने की आदत लगती है।

सोलापुर के डॉ. मिलिंद शहा से मुलाकात हुअी थी। उसे भी जैन तत्त्वज्ञान के बारे में कौतुहल है। इसलिए ये पत्ररुप लेख वह स्वयं पढ़ता है और अन्य लोगों को भी पढ़ने की प्रेरणा देता है ऐसा उसने मुझे बताया। यह ठीक ही है। जिसे तत्त्व की महिमा आती है उसे सहज ही ऐसा भाव आता है कि इस बातको अधिक से अधिक लोग जाने।

अगर ऐसा हमें भासित नहीं हो तो कौअे से भी हम हीन / गये बीते साबित होंगे। क्योंकि कौअे को खाने के लिए खुरचन (जली खिचड़ी) भी मिलती है तो पहले काव काव करके वह सब कौओं को इकठ्ठा करता है और फिर सब मिलकर खाते हैं।

कौआ और चिड़ियाँ की कहानी सुनने की तुम्हारी उम्र तो अब नहीं रही। इसलिए आज का पत्र यहीं पर समाप्त करती हूँ।

शेष शुभ,

तुम्हारी माँ

* *

'दौल' समझ, सुन, चेत सयाने काल वृथा मत खोवै।

यह नरभव फिर मिलन कठिन है, जो सम्यक् नहीं होवै।

अर्थ : अनंत गुण वैभव-दौलत जिसके पास है ऐसे हे विवेकी जीव! तू तत्त्वज्ञान समझनेका प्रयत्न कर, सुन और जागृत हो। हे सूज्ञ जीव! यह नरभव पाकर के काल गमाये बिना तुम शीघ्र ही सम्यक्त्व धारण करो क्योंकि इस भव में ही सम्यक्त्व प्राप्त नहीं हुआ तो यह नरभव पुनश्च प्राप्त होना बहुत कठिन है।

- पं. दौलतरामजी - 'छहढाला' - ३री ढाल - १७

* *

पत्रांक ८ २० मई १९९४

पर्याय का स्वरुप

प्रिय रीना एवं मोना,

अनेक उत्तम शुभाशीर्वाद।

पत्राचार के माध्यम से हर महिने में एक बार तो मिल ही लेते हैं। मुझे विश्वास है कि तुम नियमित स्वाध्याय, एवं देवदर्शन करती ही होगी। नियमित स्वाध्याय की आदत डालने से उसकी रुचि बढ़ेगी, उसका मर्म भी समझ में आयेगा।

हम (मैं और तुम्हारे पिताजी) सन् ७२ में कुंभोज - बाहुबली वहाँ के मंदिरों के फोटो खींचने हेतु गये थे, उस समय पू. समंतभद्र महाराजजीने स्वाध्याय की प्रेरणा दी थी। दवाखाने में खाली समय में पढ़ोगी तो भी कोई बात नहीं - ऐसा उन्होंने कहा था। उसके फलस्वरुप आज जीवन ही बदल गया है। अब ४ - ५ घंटे स्वाध्याय, वाचन, चर्चा, चिंतन-मनन और खाली समय में मात्र डेढ़ घंटे दवाखाना चलता है। जब मैं दवाखाने में जाती हूँ, तब तुम्हारे दादा जिज्ञासुओं को पढ़ाते हैं। उनका सामूहिक स्वाध्याय चलता है। उनका धार्मिक ग्रन्थों का अनुवाद का काम भी उस खाली समय में चलता रहता है, जब कि मैं रसोई घर में व्यस्त रहती हूँ।

गत कुछ पत्रोंद्वारा हमने विश्व, द्रव्य, गुण का स्वरुप और प्राथमिक जानकारी दी थी। द्रव्य-गुण-पर्याय के स्वरुप के बारे में पुनः पुनः श्रवण, वाचन, मनन करना जरुरी है। केवल प्रश्न व उत्तर या उनकी परिभाषायें याद करने से उनका स्वरुप ख्याल में नहीं आता। द्रव्य, गुण, पर्याय का स्वरुप समझे बिना जैन तत्त्वज्ञान में प्रवेश ही नहीं होगा, तत्त्वज्ञान समझमें ही नहीं आयेगा। आज हम पर्याय के बारे में थोड़ी सी जानकारी लिखकर भेज रहे हैं।

गतपत्र में गुण की परिभाषा में हमने समझा था कि 'जो द्रव्य के संपूर्ण भागों में और उसकी संपूर्ण अवस्थाओं में रहता है, उसे गुण कहते हैं।' यह जो अवस्था है उसे ही पर्याय कहते हैं। पर्याय के अवस्था, दशा, हालत, अर्थ, परिणाम, परिणमन ऐसे भी अन्य नाम हैं। परिभाषा - 'गुणों के विशेष कार्य (परिणमन) को पर्याय कहते हैं।' प्रत्येक गुण प्रति समय परिणमन करता है याने उसकी नयी नयी अवस्था होती है। प्रत्येक समय में पुरानी अवस्था नष्ट होकर नयी अवस्था प्राप्त होती है। पुरानी अवस्था का नाश होना और नयी अवस्था का उत्पन्न होना इसी को अवस्था पलटना भी कहते हैं। नयी अवस्था पहले अवस्था जैसी भी हो

सकती है या अलग भी हो सकती है अर्थात् अवस्था वैसी की वैसी हो सकती है, मगर वही अवस्था नहीं रहती।

द्रव्य अनंत गुणों से बना हुआ है। यह हमने पहले समझाया था। उसके प्रत्येक गुण की अपनी स्वतंत्र अवस्था हर समय होती रहती है - पलटती है। गुण अनादिअनंत हैं, परंतु उसकी पर्याय एक समय मात्र रहती है। परंतु क्षेत्र की अपेक्षा देखा जाये तो जितना गुण का विस्तार है उतना ही उसकी पर्याय का विस्तार है। जितना बड़ा गुण का क्षेत्र है, पर्याय का क्षेत्र भी उतना ही बड़ा है - पर्याय का क्षेत्र भी वही है। सोने में जितना क्षेत्र वर्ण गुण का है उतना ही क्षेत्र वर्ण गुण की पीली अवस्था का है।

पुद्गल द्रव्य के अनंत गुणों में वर्ण और रस ये दो गुण हैं उनका उदाहरण हम देखेंगे। वर्ण गुण अनादिअनंत कायम रहता है। उस गुण की हर समय में कोई ना कोई अवस्था होती रहती है। जैसे, वर्ण यह गुण है और लाल, नीला, सफेद, हरा आदि वर्ण गुण की अवस्थायें हैं। कैरी (आम) में वर्ण गुण की हरी अवस्था है। वर्ण गुण कायम रहते हुअे उस वर्ण गुण की पीली अवस्था होती है। हरा वर्ण पलटकर पीला वर्ण हो जाता है। तब गुण नहीं पलटता उसकी अवस्था ही पलटती है। यह बदलाव हमारे ख्याल में आता है तब हमें लगता है कि अभी यह अवस्था बदल गयी है। यद्यपि ८ - ८ दिन तक कैरी (आम) हरी ही दिखती है। परंतु यह जो हरेपनसे पीलापन में बदलाव होता है, अवस्था का पलटना होता है, वह प्रति समय हो रहा है। कैरी की हरी अवस्था पलटकर फिरसे हरी ही हुई तो अवस्था पलट गयी ऐसा हमें महसूस नहीं होता। परंतु बदलाव प्रति समय होता रहता है और धीरे - धीरे वह हरे से पीले रुप में बदलती हैं।

अब रस गुण के बारे में देखेंगे। रसगुण की खट्टी अवस्था पलटकर मिठी अवस्था हुअी। रसगुण का कार्य (परिणमन, पर्याय) हर समय में निरंतर चल रहा है। सब द्रव्यों में पाये जानेवाले सामान्य गुण के बारे में हम पढ़ेंगे तब हमारे ख्याल में आयेगा ही कि प्रत्येक द्रव्य में 'द्रव्यत्व' नामक एक सामान्य गुण है, उसके कारण द्रव्य का अर्थात् उसके प्रत्येक गुण का परिणमन निरंतर होता है। निरंतर अर्थात् एक समय का भी अंतर पड़े बिना, सदैव, हर समय में होता है।

रसगुण का कार्य (परिणमन) रस गुण में होता है, वर्ण गुण का परिणमन वर्ण गुण में, गंध गुण का परिणमन गंध गुण में और स्पर्श गुण का परिणमन स्पर्श गुण में।

हम इस बात से परिचित ही हैं कि केवल पीला रंग देखकर आम लाये तो वह खट्टा भी हो सकता है। इसलिए आम खरीदते समय हम वर्ण (पीला), गंध (मधुर), रस (मीठा) और स्पर्श (नरम) देखकर खरीदते हैं। इससे और एक महान सिद्धांत

हमारे ध्यान में आता है कि एक गुण दूसरे गुण का कार्य, परिणमन या पर्याय नहीं करता, कर ही नहीं सकता।

एक ही द्रव्य में रहनेवाले अनंत गुण स्वयं अपना - अपना कार्य करते हैं, परिणमन करते हैं। जब एक द्रव्य में रहनेवाले अनंतगुण परस्पर एक दूसरे का कार्य नहीं करते, तो फिर एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कार्य कैसे कर सकता है?

समयसार ग्रंथ में भी कहा है, 'यः परिणमति सः कर्ता' जो परिणमन करता है याने जो स्वयं पलटता है वह कर्ता है और जो परिणमन हो रहा है वह उसका कर्म अथवा कार्य है।

किसी एक विशिष्ट द्रव्य की पर्याय उसी द्रव्य में ही होती है। जो क्षेत्र द्रव्य का है, वही क्षेत्र पर्याय का है। गुण, द्रव्य के संपूर्ण क्षेत्र में व्यापता है, तद्वत् पर्याय भी द्रव्य के संपूर्ण क्षेत्र में व्यापती है, पसरती है, फैलती है। जैसे, मिसरी में रस गुण संपूर्ण मिसरी में व्याप्त है वैसे उस रस गुण की मिठास भी संपूर्ण मिसरी में व्याप्त है।

द्रव्य, गुण और पर्याय इन सभी का क्षेत्र (विस्तार) एक ही होने पर भी द्रव्य और गुण अनादि अनंत कायम रहनेवाले - ध्रुव हैं और पर्याय एक समय मात्र टिकनेवाली है। हर समय नयी- नयी पर्याय होती रहती है। पूर्व पर्याय का नाश और नयी पर्याय का उत्पाद एक ही समय में होता है। जैसे, अंधकार का नाश और प्रकाश का उत्पाद एक ही समय में होता है। ऐसा नहीं होता कि पहले अंधकार को हटाकर फिर प्रकाश को लाना पड़े।

एक ही समय में पूर्व पर्याय का नाश हुआ, व्यय हुआ और उसी समय में नयी पर्याय का उत्पाद हुआ। यह व्यय और उत्पाद हर समय चलता रहता है, परंतु ऐसा होनेपर भी द्रव्य कायम रहता है, द्रव्य के गुण कायम रहते हैं। इस कायम रहने को ध्रौव्य कहते हैं।

देखो तो सही, बातों-बातों में ही हमने वस्तु स्वरुप के बारे में एक महान सिद्धांत को जाना कि वस्तु अर्थात् द्रव्य, उत्पाद व्यय ध्रुवता से युक्त है। तत्त्वार्थसूत्र नाम के ग्रंथ में सूत्र हैं, 'उत्पाद व्यय ध्रौव्ययुक्तम् सत्।' 'सत् द्रव्यलक्षणम्'। द्रव्य का लक्षण सत् है और यह सत् उत्पादव्ययध्रुवयुक्त अर्थात् उत्पाद, व्यय और ध्रुवता सहित है।

द्रव्य में एक पर्याय रुप से उत्पाद, दूसरी पर्याय रुप से व्यय होता है और उसी समय में द्रव्य कायम रहता है। अब हम सोने का दृष्टांत देखते हैं, सोना कंगनरुप में था, उसकी अंगूठी बनायी। कंगन पर्याय का व्यय हुआ, अंगूठी पर्याय का उत्पाद हुआ। और सोना सोनारुपसे कायम रहा, यह सब एक ही समय में हुआ।

कंगन पर्याय रुप से सोना था, वह सोना स्वयं अंगूठी पर्याय रुप से पलट गया अर्थात् अंगूठी रुप जो कार्य हुआ वह सोने में हुआ। सोना स्वयं अंगूठीरुप हुआ, इसलिए अंगूठी का कर्ता सोना है। इससे यह बात समझ में आती है कि जो कार्य हुआ वह द्रव्य में ही हुआ, द्रव्य के बाहर नहीं और उस कार्य का कर्ता वही द्रव्य है, अन्य द्रव्य नहीं। अपनी पर्याय का कर्ता स्वयं वही द्रव्य है, कोई भी अन्य द्रव्य उसका कर्ता नहीं है।

जीवद्रव्य का कार्य (पर्याय) जीवद्रव्य में होता है। पुद्गल का कार्य (पर्याय) पुद्गल में होता है। उसीतरह अन्य सभी द्रव्यों का - धर्म, अधर्म, आकाश, काल द्रव्यों का परिणमन उस विशिष्ट द्रव्य में ही होता है और वह द्रव्य ही अपने उस परिणमन का कर्ता है। जीव की जो पर्याय होती है उसका कर्ता जीव है, अजीव की जो पर्याय होती है उसका कर्ता अजीव है। ये सिद्धांत छहों द्रव्यों में घटित होते हैं। इस नियम का अपवाद नहीं होता। अपने स्वद्रव्यपर याने जीवद्रव्य पर यह सिद्धांत घटित करके अपने आपको अधिकाधिक जानने का, पहिचानने का अपना प्रयत्न है।

जीवद्रव्य में ज्ञान, दर्शन, श्रद्धा, चारित्र, सुख, वीर्य आदि अनंत गुण हैं। प्रत्येक गुण की पर्याय उसी विशिष्ट गुण में होती है। विशिष्ट पर्याय का कर्ता वही विशिष्ट गुण है। जानने का जो कार्य होता है, उसका कर्ता ज्ञान गुण है। चारित्र का जो कार्य होता है, उसका कर्ता चारित्र गुण है और यह जो कार्य होता है वह जीवद्रव्य में ही होता है, जीवद्रव्य के बाहर नहीं। ज्ञान, सुख, चारित्र आदि का जो कार्य होता है, वह जीवद्रव्य में ही होता है, शरीर आदि पुद्गलों में नहीं।

आगम के अभ्यास द्वारा यह तत्त्वदृष्टि अपनानी चाहिए। हमारी आज तक की मान्यतायें दूर करके तत्त्व का अभ्यास करना होगा। हमारी दृष्टि हमेशा बाह्य चीजों पर, परपदार्थोंपर ही रहती है। इस कारण धनादि में से सुख प्राप्त होता है, गुरु से या पुस्तक में से ज्ञान प्राप्त होता है - ऐसी ही अडिग श्रद्धा होती है। जब कार्य (पर्याय) होता है तब अनुकूल अन्य द्रव्यों को 'निमित्त' संज्ञा दी जाती है। परंतु वह विषय दूसरा है और उसकी विस्तृत चर्चा किये बिना भ्रांति होने की ही संभावना अधिक होने से अभी उसकी चर्चा नहीं करुंगी।

पर्याय क्षणिक है, विनाशिक है, उसे टिकाने की कोशिश करने पर भी नहीं टिकती इसलिए मात्र पर्याय की तरफ देखने वाले को आकुलता हुऐ बिना नहीं रहेगी। परंतु वह पर्याय जिसमें से उत्पन्न होती है उस ध्रुव द्रव्य की तरफ देखने से निराकुलता अनुभव में आती है।

देखो, हम महिलाओं की दृष्टि सोने की पर्यायपर याने अलंकारों की डिझाइनपर रहती है, इसलिए एक गहना तोड़कर दूसरा गहना बनवाने की

आकुलता रहती है। परंतु घर के बुजुर्ग व्यक्ति जिनकी दृष्टि स्वर्ण घर है वे कोई बात नहीं-ऐसा कहकर निश्चिंत रहते हैं।

तत्त्वज्ञान का अभ्यास यह चिंतारहित होने की अमूल्य औषधी है। हम डॉक्टर्स नींद की दवाईयाँ देकर पेशंट को सुस्त करते हैं, सुला देते हैं। और दर्दनाशक दवाईयों से पेशंट की संवेदना कम करके इलाज करते हैं। मगर वह सही इलाज नहीं है। तत्त्वज्ञान तो हमें जागृत करके वस्तुस्वरुप का ज्ञान कराता है, उसके कारण आकुलता और चिंता उत्पन्न ही नहीं होती। यही आकुलतारहित होने का सच्चा मार्ग है।

अस्तु, शेष चर्चा आगामी पत्र में करुंगी।

तुम्हारी माँ

पाप रुप को पाप तो, जानत जग सहु कोई।
पुण्यतत्त्व भी पाप है, कहत अनुभवी कोई॥

अर्थ - जो पाप है उसको पाप जान, सब कोई उसे पाप ही मानते हैं; जो कोई पुण्य को भी पाप कहता है वह बुद्धिमान कोई विरला ही है।

जब तक एक न जानता, परम पुनीत शुद्ध भाव
मूढ़ों के व्रत-तप सभी, शिव-कारण न कहाय॥

अर्थ - जब तक एक परम शुद्ध व पवित्र भाव का अनुभव नहीं होता, तब तक मिथ्यादृष्टि अज्ञानी जीव के द्वारा किये गये व्रत-तप-संयम व मूलगुण पालन को मोक्ष का उपाय नहीं कहा जा सकता।

जब तक एक न जानता, परम पुनीत शुद्ध भाव।
व्रत-संयम अरु शील-तप, निष्फल सारे जान॥

अर्थ - हे जीव! जब तक एक उत्कृष्ट शुद्ध वीतराग भाव का अनुभव न करें, तब तक व्रत, तप, संयम, शील ये सर्व पालना वृथा हैं, मोक्ष के लिए कार्यकारी नहीं हैं। पुण्य बांधकर संसार बढ़ानेवाले हैं।

- श्री. योगिन्दुदेय 'योगसार'

पत्रांक ९ २५ जुलाई १९९४

'पुद्गल' द्रव्य का स्वरुप

प्रिय रीना एवं मोना,

अनेक उत्तम शुभाशीर्वाद।

इस बार पत्र लिखने में विलंब हुआ; क्योंकि सिद्धचक्र विधान के आयोजन का लाभ लेने मैं पूना गयी थी। तुम्हारी प्यारी नानी का आमंत्रण तो था ही, आग्रह भी बहुत था। जहाँ 'एक पंथ दो काज' की कहावत चरितार्थ होती हो - भला ऐसा मौका कौन चुकायेगा। वहाँ मैंने रोज सायंकाल में आरती, स्तुति के बाद बच्चों को कहानियों के माध्यम से "सच्चे देव कैसे होते हैं? शास्त्र क्यों पढ़ने चाहिए? अपने को पहचानना क्यों जरुरी है ? चार गतियाँ कौनसी हैं? इंद्रियाँ कितनी हैं और कौनकौनसी? हम कौन हैं और हमारा कार्य क्या हैं?" आदि बातों का ज्ञान कराया। कहानी सुनने के लोभ से बच्चों की भीड़ लगती थी और वे प्रश्नों के उत्तर भी दिया करते थे। "मैं जीवद्रव्य हूँ, शरीर पुद्गल द्रव्य है, हम इंद्रियों से जो जो जानते हैं वह सब पुद्गल है, चारों गतियों में सुख कहीं भी नहीं हैं। ऐसे सही-सही उत्तर वे बच्चे बड़ी शीघ्रता और उत्साहपूर्वक देते थे।

बच्चों ने जिसे संक्षिप्त में समझा, उसे ही मैं थोड़े विस्तार से लिख रही हूँ। विश्व में छह द्रव्य हैं। उसमें से जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये पांच द्रव्य हमें दिखायी नहीं देते, किसी भी इंद्रिय द्वारा हम उन्हें जान नहीं सकते। इन द्रव्यों को 'अरुपी' कहा हैं। माइक्रोस्कोप या इन्फ्रारेड फोटोग्राफी से भी उनका अस्तित्व सिद्ध नहीं कर सकते। मात्र पुद्गल द्रव्य ही रुपी है। उसमें स्पर्श, रस, गंध, वर्ण आदि गुण हैं और उस द्रव्य को इंद्रियों द्वारा हम जान सकते हैं। जानने की शक्ति मात्र जीवद्रव्य में ही है। जिन इंद्रियों द्वारा जीव जानता है वे इंद्रियाँ भी शरीर का ही भाग याने अवयव होने से पुद्गल ही हैं। पुद्गल को मूर्तिक और अन्य पाँच द्रव्यों को अमूर्तिक कहते हैं।

आत्मा में स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द आदि नहीं हैं, परंतु जीव अपने आपको और अन्य को जान सकता है। यह ज्ञान-दर्शन शक्ति अर्थात् जानने देखने की शक्ति मात्र जीव में ही है इसलिए जीव को 'चेतन' कहते हैं। जीव को छोड़कर अन्य पाँच द्रव्य अचेतन हैं।

छहों द्रव्य एक दूसरे को अवगाहन देते हैं, यह हम पहले ही लिख चुके हैं। जिस क्षेत्र में जीवद्रव्य व्याप्त है, उसी क्षेत्र में रहनेवाले शरीर को जीव जानता है।

परंतु आश्चर्य और दुर्भाग्य की बात यह है कि उस शरीर में ही जीव ने 'स्व' की कल्पना कर ली है। जानने की शक्ति तो जीव की है परंतु वह शरीर की ही है ऐसी भ्रांति इस जीव को हो गयी। जाननेवाला खुद को ही नहीं जानता इससे बड़ा दुर्दैव और क्या हो सकता है ? शरीर को 'मैं' मानने के कारण शरीरसंबंधी चीजों को 'मेरा' माना गया। पुद्गल का स्वरुप ज्ञात न होने के कारण ही यह सब गड़बड़ और घोटाला हो गया है।

तुम कहोगी कि जब पुद्गल से जीवद्रव्य भिन्न ही है तो फिर केवल जीवद्रव्य की ही जानकारी दो, अन्य बातों की क्या आवश्यकता है? परंतु रोज मर्रा की जिंदगी में भी हम देखते हैं कि जिन चीजों की मिलावट की संभावना होती है उन चीजों का ज्ञान भी आवश्यक है। जैसे - सोना ओर पीतल इन दोनों धातुओं के लक्षण ज्ञात होंगे तो ही सोना खरीदते समय ठगायेंगे नहीं। हीरा खरीदते समय हीरे के साथ-साथ कांच के गुणधर्म भी ज्ञात होना जरुरी है।

इसीप्रकार जीव व शरीरादि पुद्गल के विषय में समझना चाहिए। शास्त्रों में पुद्गल के बारे में जो विस्तृत वर्णन है उसका एकमात्र कारण यही है कि जीव पुद्गलों में अहंपणा करता है, उसके साथ एकमेक होने रुप कल्पनायें करता है, उन पुद्गलों को जानकर 'मैं उनसे भिन्न हूँ उनरुप नहीं हूँ - ऐसा समझना होगा।

पुद्गल के परमाणु और स्कंध - ऐसे दो भेद हैं। जिसका दूसरा विभाग नहीं हो सकता ऐसे सबसे छोटे पुद्गल को परमाणु कहते हैं। सच कहो तो परमाणु ही पुद्गल द्रव्य है। दो या दो से अधिक परमाणुओं का बंध होता है उसे स्कंध कहते हैं। स्कंध में दो, अनेक, असंख्य या अनंत भी परमाणु हो सकते हैं।

स्थूलता और सूक्ष्मता के आधार से स्कंध के छह भेद किये जाते हैं। जैसे, गेहूँ के गेहूँ, थुली, भरड़, रवा, आटा और मैदा ऐसे भेद हम देखते हैं।

स्कंधों के भेद -

१. स्थूल - स्थूल : वह पुद्गल स्कंध जिसके दो टुकड़े करने पर फिर से आपस में पूर्ववत् नहीं जुड़ सकते। जैसे पर्वत, लकड़ी, कोयला, बाल आदि।

२. स्थूल : वह पुद्गल स्कंध जिसके दो विभाग तो हो सकते हैं और फिर से एकत्रित करनेपर पुनः पूर्ववत् एकमेक हो जाते हैं। जैसे - पानी, तेल, दूध आदि द्रवपदार्थ।

३. स्थूल- सूक्ष्म : वह पुद्गल स्कंध जो आँखों से दिखायी देता है, मगर हाथों से पकडा नहीं जाता, जिसके टुकड़े भी नहीं कर सकते। जैसे - प्रकाश, अंधकार आदि।

४. सूक्ष्म- स्थूल : वह पुद्गल स्कंध जो आँखों से दिखायी नहीं देता मगर अन्य चार इंद्रियोंद्वारा जाना जा सकता है। जैसे - हवा, सुगंध, स्वाद, आवाज आदि।

५. सूक्ष्म : वह पुद्गल स्कंध जो किसी भी इंद्रियोंद्वारा जाना नहीं जा सकता। इसका उदाहरण है कार्माण वर्गणा। कार्माण वर्गणा से जो बनता है उसे द्रव्यकर्म या कार्माण शरीर कहने में आता है।

६. सूक्ष्म-सूक्ष्म : सबसे सूक्ष्म स्कंध। जैसे - दो या अधिक परमाणुओं से बनी अन्य वर्गणायें।

प्रवचन में पुद्गल स्कंधों का यह वर्गीकरण सुनकर इंद्रजीत ने तुम्हारे दादा से कहा था कि आपका यह वर्णन सुनकर Matter की Solid, Liquid और Gas ये States याने अवस्थायें सिद्ध होती हैं। उस वजह से अन्य भेद भी हम मान्य कर सकते हैं। विज्ञान के दृष्टिकोण से विश्लेषण करके उसने जो निष्कर्ष निकाले वह प्रयत्न मुझे सराहनीय लगा। औरंगाबाद का इंद्रजीत, सातारा का शिरीष, मुंबई का राजेश - ये सब इंजिनीयर हैं और जैन सिद्धांत में विशेष रुचि रखनेवाले युवक हैं।

ये सिद्धांत अद्भुत हैं और सर्वज्ञ कथित होने के कारण सत्य भी हैं।

स्थूल - सूक्ष्मता की अपेक्षा से इन स्कंधों के दूसरे प्रकार से भेद (वर्गीकरण) किये जाते हैं। (१) आहारवर्गणा, (२) तेजसवर्गणा, (३) भाषावर्गणा, (४) मनोवर्गणा, (५) कार्माणवर्गणा आदि २२ भेद हैं।

१. आहारवर्गणा : यह वर्गणा सबसे स्थूल है। इस पुद्गल स्कंध से औदारिक, वैक्रियिक और आहारक शरीर बनते हैं।

एकेंद्रिय से लेकर पंचेंद्रिय तिर्यंचो के शरीर, मनुष्य, देव, नारकी जीवों के शरीर आहारवर्गणा से बनते हैं। हमें जो दिखाई देती हैं वे आहारवर्गणायें ही दिखायी देती हैं, जैसे - मिट्टी, पत्थर, लोहा, लकड़ी, वस्त्र, वनस्पती, पशुओं के शरीर, मनुष्यों के शरीर आदि।

२. तेजसवर्गणा : इस वर्गणा से तेजस शरीर बनता है। इस तेजस वर्गणा के कारण शरीर में कांति उत्पन्न होती है।

३. भाषावर्गणा : इस वर्गणा के कारण आवाज याने ध्वनी बनती है। विज्ञान में भी हम ध्वनिलहरी कहते हैं, उन्हें रेडिओ द्वारा पकड़ सकते हैं, उसका पुनः प्रक्षेपण कर सकते हैं, उनकी लंबाई नाप सकते हैं।

४. मनोवर्गणा : इस पुद्गल स्कंध से द्रव्यमन की रचना होती है। द्रव्यमन अष्टदल कमल के आकार का है और छाती में उसका स्थान है। परंतु सूक्ष्म होने के कारण ऑपरेशन के समय भी अंदर कहीं दिखायी नहीं देता। विचार, संकल्प,

विकल्प, स्मरण, उपदेश का ग्रहण आदि कार्य मन के द्वारा चलते हैं। उसे जानने का कार्य तो जीव ही करता है। हम कहते भी हैं, मेरे मन में ऐसा विचार आया।

५. **कार्माणवर्गणा :** इस वर्गणा से कार्माणशरीर बनता है। इससे भी सूक्ष्म अन्य वर्गणायें हैं। पुद्गल के बारे में इतना जान लेने पर कई बातें हमारी समझ में आती हैं। शरीर आहारवर्गणा से बनता है, वाणी भाषावर्गणा से, मन मनोवर्गणा से और कर्म कार्माणवर्गणा से बनता है। ये सभी पुद्गल के ही भेद होने के कारण अचेतन हैं। किसी भी वर्गणा में ज्ञान-दर्शन अर्थात् चैतन्य नहीं है। ज्ञान जीव का ही गुणधर्म है।

शास्त्रों में कथन आता है कि, 'मैं चैतन्यमात्र हूँ; शरीर, मन, वाणी, कर्म आदि से भिन्न हूँ' उसका अर्थ अब हमारी समझ में ठीक से आ सकता है। उन्हें भिन्न करना नहीं है, वे जीव से भिन्न ही हैं ऐसा मात्र जानना ही है। पुद्गल को जानना दोष नहीं है मगर उसे अपना मानना, उसमें आत्मबुद्धि करना दोष है।

अपने को पहचानने के लिए दूसरों को जानना भी चाहिए। 'अपने को पहचानिए' यह मंत्र सदा सामने रखकर उसी के लक्ष्य से शास्त्राभ्यास करना चाहिए।

दो दिन बाद हम शिविर में सम्मिलित होने के लिए जयपुर जा रहे हैं। वहाँ से लौटने पर मिलेंगे।

तुम्हारी माँ

❖ ❖

स्यातम को जाने नहीं, करे पुण्य बस पुण्य
तदपि भ्रमे संसार में, शिव-सुख से हो शून्य॥

अर्थ : यदि तू आत्मा को नहीं जानेगा सर्व पुण्य कर्म को ही करता रहेगा, तो भी तू सिद्ध सुख को नहीं पावेगा। पुनः पुनः संसार में ही भ्रमण करेगा।

- श्री योगिन्दुदेय 'योगसार'

❖ ❖

पत्रांक १०　　२७ अगस्त १९९४

अस्तित्व गुण

प्रिय रीना एवं मोना,

अनेक उत्तम शुभाशीर्वाद।

हमने अब तक विश्व, द्रव्य, गुण, पर्याय का स्वरुप समझा और पुद्गल द्रव्य के बारे में थोड़ी सी जानकारी प्राप्त की। हम इंद्रियों द्वारा जो कुछ जानते हैं वह सब पुद्गल ही है - ऐसा ज्ञात होने पर सहज ही प्रश्न उठता है कि जीवद्रव्य कैसा है? और उसको जानना हो तो कैसे जाने? जीवद्रव्य का विशेष जानने से पहले उसका सामान्य लक्षण जानना होगा। 'सब द्रव्यों में जो गुण पाये जाते हैं उन्हें सामान्य गुण कहते हैं' यह तो तुम्हें पता ही है।

वैसे तो सामान्य गुण अनंत हैं; परंतु अनन्त की चर्चा न संभव है और न आवश्यक। वस्तु का सामान्य स्वरुप ख्याल में आ सके, इसलिए छह सामान्य गुण जानना पर्याप्त है। ये छह गुण इसप्रकार हैं - अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशत्व।

अस्तित्व याने सत्ता - विद्यमानता - सद्भाव। द्रव्य सर्वदा है। द्रव्य की सत्ता सदाकाल रहती है - ऐसा जानने के पश्चात् ही द्रव्य कैसा है, क्या काम करता है? यह जाना जा सकता है।

अस्तित्व गुण : 'जिस शक्ति के कारण से द्रव्य का कभी भी नाश नहीं होता और द्रव्य किसी से उत्पन्न भी नहीं हो सकता उस शक्ति को अस्तित्व गुण कहते हैं।'

अस्तित्व गुण यह दर्शाता है कि प्रत्येक द्रव्य की सत्ता अनादिकाल से है और वह सत्ता सदा कायम रहनेवाली है, तथा कोई भी द्रव्य नया उत्पन्न नहीं होता। प्रत्येक द्रव्य का अपना-अपना अस्तित्व गुण है। दो या अधिक द्रव्य मिलकर उनकी एक सत्ता नहीं होती, उसीतरह नया द्रव्य उत्पन्न होकर द्रव्यों की संख्या भी नहीं बढ़ती।

Matter याने पुद्गल के बारे में वैज्ञानिकों ने यह सिद्ध किया है कि Matter is always constant, it is never destroyed, it only changes its form. वास्तव में छहों द्रव्य के बारे में यह सिद्धांत सच उतरता है कि द्रव्य हमेशा रहता है उसकी मात्र पर्याय बदलती है। वैज्ञानिकों ने प्रयोगशाला में केवल पुद्गल पर ही प्रयोग किये हैं, इसलिए पुद्गल के बारे में थोड़ी बहुत जानकारी वे दे सकते हैं। परंतु आत्मा के

प्रयोग आत्मा में ही हो सकते हैं, आत्मा के द्वारा ही आत्मा को जान सकते हैं - आत्मानुभूति हो सकती है। ऐसे प्रयोग हमारे आचार्यों ने किये और तदनुसार उन्हों ने शास्त्रों की रचना की। यह भी Science है - विज्ञान है इसका नाम भी 'वीतराग विज्ञान' है।

तत्वार्थसूत्र नाम के ग्रंथ में द्रव्य का लक्षण 'सत्' बताया है। 'सत् द्रव्य लक्षणम्।' सत् याने अस्ति-सत्ता। यह सत्ता किस कारण से है? इसे ईश्वर ने निर्माण किया और ईश्वर इस सत्ता को टिकाये रखता है ऐसा है क्या? नहीं। प्रत्येक द्रव्य की सत्ता उसके अपने अस्तित्व गुण के कारण से है। इस सत्ता के लिए / अस्तित्व के लिए किसी भी परद्रव्य की मदद या सहारे की आवश्यकता नहीं होती।

दगडू नाम का एक आदमी था। उसके पास ना जनम का प्रमाणपत्र, ना कोई जीवित होने का प्रमाणपत्र था। वह किसी काम से सरकारी ऑफिस में गया। क्लर्क ने उससे पूछा, 'अरे, तू अस्तित्व में है, जीवित है - इसका तेरे पास कोई सबुत है ?' दगडू कहता है, 'साहेब! मैं जीता-जागता आपके सामने हाजिर हूँ और आप मेरे जीवित होने का–अस्तित्व का सबुत माँग रहे हैं ?'

हमारी भी स्थिति आज ठीक ऐसी ही हो गयी है। सारी दुनिया को जाननेवाला, सब का ज्ञान करनेवाला, निर्णय करनेवाला, बुद्धिवंत ऐसा यह आत्मा ही पूछ रहा है कि, 'आत्मा (मैं) है इसका सबूत Proof क्या है?' जीव के सहवास के कारण कलेवर (शरीर) को भी जिंदा कहा जाता है और जीव निकल जाने के बाद उसे मृत कहा जाता है। वह जीव ही आज कलेवर में मैंपना स्थापित करके कह रहा है कि 'आत्मा है इसे सिद्ध कीजिए नहीं तो हम नहीं मानेंगे।'

इसप्रकार सर्वप्रथम अस्तित्व का ही अस्तित्व सिद्ध करने की जिम्मेदारी हमपर आती है। जीव का अस्तित्व पहले भी था, वर्तमान में भी है और इस मनुष्य अवस्था के बाद (मृत्यु के पश्चात्) भी कायम रहनेवाला है ऐसा बतानेवाले अस्तित्व गुण की सिद्धि हम निम्नानुसार कर सकते हैं।

१. एकेंद्रियों से लेकर पंचेंद्रियों तक अनेक जीव दिखायी देते हैं। मनुष्यों में भी कोई गरीब, कोई श्रीमंत, कोई अंधा, कोई लूला, एक ही घर में कोई होशियार तो कोई मतिमंद ऐसी विषमता दिखायी देती है, ऐसा क्यों? ऐसा पूछने पर उत्तर मिलता है कि उस जीव ने पूर्व में जैसे कर्म बांधे थे उसके फल वह जीव भोग रहा है। इससे यह सिद्ध होता है कि कर्म करनेवाला जीव जो पूर्व में था वही जीव अब उस कर्म के फल भुगत रहा है। इसतरह अस्तित्व गुण की सिद्धि होती है।

२. व्यंतरों की अनेक घटनायें हमारे देखने-सुनने में आती हैं। जो जीव पूर्व में विशिष्ट व्यक्ति था वही जीव व्यंतर हो गया है अर्थात् जीव का अस्तित्व कायम है।

३. पूर्वजन्म की अनेक कहानियाँ सिद्ध हो चुकी हैं। पूर्व के भव का वही जीव इस भव में भी अस्तित्व में है यह सिद्ध होता है। जातिस्मरण (पूर्व भव की स्मृति) द्वारा भी यह सिद्ध होता है।

४. प्रथमानुयोग में अनेक कथायें हैं। किसी जीव के अनेक भवों का वर्णन उसमें आता है। भगवान आदिनाथ के समय मरीचि नाम का जीव था, वही जीव करोडों - अरबो वर्षों पश्चात् सिंह हुआ और वही जीव दस भव पश्चात् भगवान महावीर हुआ, वर्तमान में वही जीव सिद्ध अवस्था में है। जीव का अस्तित्व कायम है।

५. बालक, युवा, वृद्ध अवस्थाओं में रहनेवाला एक ही जीव है। शरीर में इतना बड़ा बदलाव आने पर भी जीव वही है, उस जीव का अस्तित्व कायम है।

६. पच्चीस साल पहले मुझे क्रोध आया था इस का ज्ञान मुझे इस समय हो सकता है। क्रोध निकल गया, फिर भी उसका ज्ञान करनेवाला जीव कायम है।

७. साँप के काटने पर मंत्र द्वारा जब वह व्यक्ति बोलने लगता है तब कहता है कि वह (साँप) पूर्वजन्म का कोई वैरी था।

८. उमास्वामी आचार्य ने तत्त्वार्थसूत्र में बताया है कि -

'उत्पाद व्यय ध्रौव्ययुक्तं सत्।' 'सत् द्रव्य लक्षणम्।'

इसप्रकार अस्तित्व की सिद्धि तो हमने कर दी। परंतु इस अस्तित्व का / सत्ता का स्वरुप कैसा है इसके बारे में थोड़ा सा परिचय प्राप्त करेंगे। ऊपर कहा था वैसे यह सत्ता उत्पाद, व्यय, ध्रुवता युक्त है। प्रत्येक द्रव्य अपने गुणों और पर्यायों से युक्त होता है (गुणपर्ययवत् द्रव्यम्)। उसमें द्रव्य और उसके अनंत गुण नित्य होते हैं - ध्रुव होते हैं, उसमें वधघट नहीं होती, पलटना नहीं होता, जैसे हैं वैसे कायम रहते हैं। पर्याय हर समय नयी नयी बनती है, हर समय पूर्व पर्याय का नाश होता है। ये उत्पाद और व्यय (उत्पत्ति और विनाश) पर्यायों के होते हैं।

द्रव्य का प्रत्येक समय में बदलनेवाला अंश है उसकी अवस्था याने पर्याय और उसी समय में ध्रुव रहनेवाला, कायम रहनेवाला, अपरिवर्तनीय अंश है द्रव्य व गुण।

द्रव्य का लक्षण 'सत्' है ऐसा जब हम कहते हैं तब वह 'सत्' उत्पाद् व्यय और ध्रुव से युक्त होता है। द्रव्य भी सत् है (नित्य अंश) और पर्याय भी सत् है

(अनित्य अंश)। प्रत्येक समय में द्रव्य किसी ना किसी अवस्था में रहता ही है। द्रव्य अपनी पर्याय से भिन्न नहीं होता। यह पर्याय क्षणिक होती है। प्रत्येक समय में नयी पर्याय उत्पन्न होती है और पुरानी पर्याय का विनाश होता है। इसकारण द्रव्य को क्षणिक मानना योग्य नहीं है।

जब हम 'सोना' इस वस्तु के बारे में विचार करते हैं तब पता चलता है कि जो सोना सोनेरुप से कायम रहता है, उसे ध्रुव अंश, नित्य अंश कहते हैं और उसकी जो हार, कंगन, कुंडल आदि अवस्थायें होती हैं, वे उत्पाद, व्यय रुप हैं, उन्हें अनित्य अंश कहते हैं।

जीव में पर्याय की अपेक्षा से मनुष्यपर्याय, देवपर्याय, नारकीपर्याय, तिर्यंचपर्याय आदि उत्पाद-व्यय चलते रहते हैं। पर्याय के नाश को द्रव्य का नाश मानने से दुःख होता है। परंतु एक पर्याय के नाश के साथ-साथ उसी क्षण नयी पर्याय की उत्पत्ति होती है और द्रव्य तो सदा ही जैसा का वैसा कायम रहता है इस बात का ज्ञान होते ही मरण के संबंध में दुःख, भय, आकुलता का नाश होता है। वैसे ही इहलोक का भय, परलोक का भय, अरक्षाभय आदि सप्त भयों का भी अंत होता है।

एक अस्तित्व गुण के जानने मात्र से बहुत लाभ होता है। जैसे कि -

१. मैं जीवद्रव्य हूँ और सत् होने के कारण अनादि अनंत हूँ। मैं अनादिकाल से हूँ और अनंत काल तक मेरा अस्तित्व कायम रहनेवाला है।

२. मैं अजर अमर हूँ।

३. सात प्रकार के भयों का अभाव होता है।

४. ईश्वर जगत का उत्पन्नकर्ता, रक्षणकर्ता और विनाशकर्ता है इस विपरीत मान्यता का अभाव होता है।

५. कर्म जीव का उत्पन्नकर्ता, रक्षणकर्ता या विनाशकर्ता है इस खोटी मान्यता का अभाव होता है।

६. मैं दूसरों को उत्पन्न करनेवाला, उनका रक्षण करनेवाला या नाश करनेवाला हूँ ऐसी खोटी मान्यता का अभाव होता है।

७. दूसरा अन्य कोई मेरा उत्पन्नकर्ता, रक्षणकर्ता या विनाशकर्ता है इस मिथ्या मान्यता का अभाव होकर हीन-दीनपना नष्ट होता है।

८. मेरा अस्तित्व मेरे ही कारण है इसलिए मात्र स्व-अस्तित्वपर दृष्टि केंद्रित करने से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति और धर्म की शुरुवात होती है।

देखो तो सही, एक अस्तित्व गुण जान लेने से कितना सारा लाभ होता है, अमर होने की कला हाथ लग जाती है। अपनी ही मूर्खता से, अज्ञान के कारण शरीर के साथ संयोग-वियोग होनेपर हम अपना जन्म-मरण मानते आये थे और कल्पना से ही दुःखी होते थे।

अस्तित्व गुण जानने से अब समझ में आया कि जीव कभी भी नहीं मरता। कहा भी है -

"उत्पाद व्यय युत वस्तु है फिर भी सदा ध्रुवता धरे ।
अस्तित्व गुण के योग से कोई नहीं जग में मरे ॥"

केवल एक अस्तित्व गुण जानने से इतना सारा लाभ हुआ इसलिए बाकी अन्य गुण शीघ्र जानने की उत्सुकता होना स्वाभाविक है। उसकी चर्चा अगली बार करेंगे।

पर्युषण पर्व के निमित्त होने वाले प्रवचनों का लाभ अवश्य लेना। मोना, औरंगाबाद में ब्र. श्री. यशपालजी जैन आनेवाले हैं और रीना, मालाड में श्री. प्रदीपजी झांझरी आनेवाले हैं। उनके प्रवचनों का लाभ तुम्हें अवश्य लेना चाहिए ऐसी मेरी भावना है।

तुम्हारी माँ

✣ ✣

✣ यदि भवसमुद्र को पार न किया तो मनुष्य देह मिला उससे क्या? ✣
✣ पंडित कहलाया उससे क्या? और तीर्थों में स्नान किया उससे क्या? जो ✣
✣ कर्म को क्षीण न किया और धन प्राप्त किया तो उससे क्या? इंद्रियों को ✣
✣ तृप्त किया उससे क्या? और सिरपर छत्र धारण करके छत्रपती हुआ ✣
✣ उससे क्या? यदि जरा-मरणादि का निवारण नहीं किया और मुंडन किया ✣
✣ उससे क्या? साधु आदि का वेष धारण किया उससे क्या? यौवन प्राप्त ✣
✣ किया उससे क्या? और यदि आत्मा का प्रकाश अर्थात् आत्मज्ञान की ✣
✣ प्राप्ति नहीं की तो देशांतर करने से क्या? अथवा दूर देश में अनजान ✣
✣ लोगों में रहे उससे क्या? भ्रांति के विलास से या दुर्जनों के सहवास से ✣
✣ क्या? क्योंकि ये सभी बातें होनेपर भी आखिर में पछताना ही पड़ेगा। ✣
✣ क्योंकि करने योग्य तो एक आत्मज्ञान ही है - वह तो हुआ ही नहीं। ✣
✣ - भैय्या भगवतीदास 'ब्रह्मविलास' ✣

✣ ✣

पत्रांक ११ २९ अक्टूबर १९९४

वस्तुत्व गुण

प्रिय रीना एवं मोना,

अनेक उत्तम शुभाशीर्वाद।

पत्राचार द्वारा हम जो स्वाध्याय कर रहे हैं उसे डेढ़ साल बीत चुके। हमारे साथ अन्य बहुत से लोग इसका लाभ ले रहे हैं, यह अच्छी बात है। धार्मिक पत्रिका या पुस्तक देखते ही हम ऐसा सोच लेते हैं - वह घर के बुजुर्गों के लिए है हमें उससे कुछ प्रयोजन नहीं है। ऐसी मनोवृत्ति आज कल अनेक लोगों की है। परंतु इस में हर एक के अपने कल्याण की ही बात है यह हमने गत दस पत्रों द्वारा देखा है।

गत पत्र में अस्तित्व गुण की चर्चा करते हुए हमने विचार किया था कि द्रव्य सत् है। द्रव्य की सत्ता याने अस्तित्व शाश्वत है - कायम है। द्रव्य नया उत्पन्न भी नहीं होता, द्रव्य का विनाश भी नहीं होता। यह 'सत्' उत्पाद, व्यय, ध्रुवता से युक्त है। प्रत्येक समय द्रव्य की नयी अवस्था याने पर्याय उत्पन्न होती है और पुरानी या पूर्व पर्याय का नाश होता है। द्रव्य की पर्याय को ही द्रव्य का कार्य अथवा क्रिया कहने में आता है। वस्तु में होनेवाली यह क्रिया उस वस्तु के अंगभूत शक्ति के कारण होती है। इस शक्ति को ही वस्तुत्व गुण कहते हैं। इस वस्तुत्व गुण के बारे में आज हम चर्चा करेंगे। वस्तुत्व गुण की परिभाषा है – 'जिस शक्ति के कारण से द्रव्य में अर्थक्रियाकारित्व होता है अर्थात् अपनी अपनी प्रयोजनभूत क्रिया होती है उस शक्ति को वस्तुत्व गुण कहते हैं।'

इस परिभाषा में अर्थक्रियाकारित्व शब्द आया है। अर्थ याने द्रव्य, अर्थक्रिया याने द्रव्य की क्रिया - द्रव्य का कार्य - द्रव्य का परिणमन - द्रव्य की पर्याय। कारित्व याने करवाने की शक्ति। अर्थक्रियाकारित्व याने द्रव्य का परिणमन होने का जो भाव है - शक्ति है वह द्रव्य के वस्तुत्व गुण के कारण है। प्रत्येक द्रव्य में ही अपनी क्रिया करने की शक्ति स्वयं की है। उसे वस्तुत्व गुण कहते हैं। वस्तुत्व गुण के कारण द्रव्य की 'वस्तु' संज्ञा है। द्रव्य अपने गुण पर्यायों में वसता है इसलिए उसे वस्तु कहते हैं।

प्रत्येक द्रव्य का प्रतिसमय जो परिणमन हो रहा है, वह उस द्रव्य के वस्तुत्व गुण के कारण हो रहा है। यह परिणमन किसी भी अन्य द्रव्य के कारण, ईश्वर के कारण, कर्म के कारण या अपनी इच्छा के कारण नहीं होता। किसी भी द्रव्य के

पर्याय की यह उत्पाद-व्यय रुप क्रिया किसी भी अन्य द्रव्य के कारण नहीं होती। कोई भी द्रव्य दूसरे अन्य द्रव्य की क्रिया याने पर्याय (उत्पाद-व्यय रुप अवस्था) कर ही नहीं सकता।

वस्तुत्व गुण की परिभाषा में 'प्रयोजनभूत क्रिया' शब्द आता है। प्रयोजन अर्थात् हेतु - कारण। आँखों का क्या प्रयोजन है? देखना। ज्ञानगुण का प्रयोजन है ज्ञान करना, श्रद्धा गुण का प्रयोजन है श्रद्धा करना। प्रत्येक द्रव्य और प्रत्येक गुण अपना-अपना प्रयोजनभूत कार्य करता है।

शरीर के अवयवों का उदाहरण ही देखो ना! एक ही शरीर के अवयव होने पर भी आँखे देखने का काम करती हैं, कान सुनने का काम करते हैं, नाक सूँघने का काम करता है। परंतु ऐसा कभी भी नहीं होता कि आँखे लाल हो गयी हैं, इसलिए कानों ने देखने का काम किया हो अथवा कान में दर्द है इसलिए आँखों ने थोड़े समय के लिए सुनने का काम किया हो। प्रत्येक इंद्रिय अपना-अपना प्रयोजनभूत काम करता है, दूसरों के काम में दखल नहीं देता, हेर-फेर नहीं करता, अपनी मर्यादा में रहकर अपना कार्य करता है।

बड़ी-बड़ी संस्थाओं अथवा बड़े एकही परिवार में हर व्यक्ति अपना-अपना काम करते हुए अपनी मर्यादा में रहे तो सुख-सुविधा से सारा कारोबार चलता है। परंतु आज कल छोटे परिवारों में भी मानसिक तनाव और कलह होते हैं, वे वस्तुत्व गुण के इस रहस्य को न जानने से ही होते हैं।

एक ही द्रव्य में रहने वाले जो अनंत गुण हैं वे भी अपना कार्य आप स्वयं ही करते हैं। ज्ञान गुण श्रद्धा गुण का कार्य नहीं करता, श्रद्धा गुण चारित्र गुण का कार्य नहीं करता। इसका जिसे पता नहीं है उसे अज्ञानवश ऐसे प्रश्न उठते हैं कि इतना जानते हो तो सम्यग्दर्शन क्यों नहीं हो रहा अथवा दीक्षा क्यों नहीं ले रहे हो? राजा वृषभदेव की कथा मालूम है न? वे जन्म से ही सम्यग्दृष्टि थे, (उनके श्रद्धा गुण का निर्मल परिणमन था) सम्यग्ज्ञानी थे। फिर भी उनकी ८३ लाख पूर्व की आयु संसार (राजपाट) सम्हालने में बीती। अंतरंग लीनता होकर (चारित्र गुण की पर्याय) मुनियोग्य चारित्र दशा होने में उन्हें इतना समय लगा। क्योंकि प्रत्येक गुण का कार्य उसके स्वयं के कारण होता है। यहाँ इस बात का पता लगता है कि श्रद्धा गुण चारित्र गुण का कार्य नहीं करता। यहाँ जो यह दृष्टांत दिया है, वह संसार में स्वच्छंदता से रहने के लिए नहीं, बल्कि वस्तुत्व गुण का स्वरुप जानने के लिए दिया है।

जीवद्रव्य अपनी प्रयोजनभूत क्रिया अर्थात् जानना-देखना आदि कार्य करता है, परंतु अन्य जीवों का या पुद्गल का कार्य जीव नहीं कर सकता।

अज्ञान के कारण यह जीव ऐसा मानता है कि परद्रव्य का कार्य मैं करता हूँ, मेरी इच्छा के अनुसार परद्रव्यों का परिणमन मैं बदल सकता हूँ, कदाचित इच्छा के अनुसार कार्य हुआ तो कर्तृत्वबुद्धि का अहंकार पुष्ट करता है और अन्यथा कार्य होनेपर आकुलता करता है, दुःखी होता है। परद्रव्यों में एकत्व करने के कारण पर के कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व की मिथ्या भ्रमणा इस जीव को होती है।

यह जीव शरीर को 'स्व' मानता है अथवा 'मेरा' मानता है और शरीर की क्रिया मैं करता हूँ ऐसा वृथा अभिमान करता है। जब अपनी इच्छा के अनुसार शरीर की हलन-चलन आदि क्रिया होती है तब यह कर्तृत्वबुद्धि और ही बढ़ती है। परंतु जब बीमार होना, वृद्धत्व आना, बाल सफेद होना या नष्ट होना, कमजोरी आना आदि शरीर की क्रियायें अपनी इच्छा के विरुद्ध होती हैं, तब यह जीव दुःखी होता है। जब यह जीव जानेगा कि, 'मैं एक जीव द्रव्य हूँ, मेरा जानने-देखने रुप परिणमन मेरे में ही हो रहा है और वह मेरे वस्तुत्व गुण के कारण से हो रहा है। तथा शरीर अनंत पुद्गल परमाणुओं का बना हुआ है, उसमें प्रत्येक परमाणु अपने-अपने वस्तुत्व गुण के कारण परिणमन कर रहा है' तब उसके कर्तृत्वबुद्धि का, आकुलता का व दुःख का अंत होगा।

अस्तित्व गुण में हमने देखा था कि प्रत्येक द्रव्य का अस्तित्व (सत्ता) भिन्न-भिन्न है, यह सत्ता उत्पाद, व्यय और ध्रुवता से युक्त है। आरंभ में गुण की परिभाषा में देखा था कि प्रत्येक द्रव्य का स्वचतुष्टय - स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल व स्वभाव भिन्न-भिन्न हैं और आज यह देखा कि प्रत्येक द्रव्य में वस्तुत्व गुण है, जिसके कारण उस द्रव्य की उत्पादव्ययरुप क्रिया चल रही है। इन सब बातों से प्रत्येक द्रव्य की स्वतंत्रता ध्यान में आती है।

देश की स्वतंत्रता के लिए अनेक लोगों को जान की बाजी लगाकर लड़ना पड़ा था। परंतु वस्तु की यह स्वतंत्रता प्राप्त नहीं करनी है, किंतु वस्तु स्वभाव से ही स्वतंत्र है उसे मात्र जानना है। उस स्वतंत्र स्वभाव का हमें ज्ञान करना है। इस ज्ञान के नहीं होने से हम भ्रांति से दुःखी हो रहे हैं। वस्तुस्वरुप ज्ञात होने से यह सारा दुःख स्वयं दूर हो जाता है।

वर्तमान में जिधर देखो उधर टेन्शन दिखायी देता है। दूसरों के परिणमन का बोझा अपने मायेपर लादकर यह जीव दुःखी हो रहा है। बच्चों के पालने पोसने की चिंता, उन्हें पढ़ाने की चिंता, उन्हें अपनी इच्छा के अनुसार डॉक्टर-इंजिनियर बनाने की चिंता, पैसा कमाने की और उसे टिकाये रखने की चिंता, परिवार के सदस्यों को अपनी मर्जी के अनुरुप आचरण कराने की चिंता, रोग या मरण प्राप्त न हो - इसकी चिंता - इन चिंताओं का कोई अंत नहीं है। अपने आप को दूसरों का कर्ता धर्ता मानकर यह जीव मिथ्या अहंकार करता है और निरंतर दुःखी रहता है।

कोई विशिष्ट कार्य अपनी शक्ति के - मर्यादा के बाहर है ऐसा लगता है, तब यह जीव ईश्वर को कर्ता-धर्ता मानकर उसके पास दौड़ता है। सच्चे देव का स्वरुप ज्ञात न होने के कारण वीतरागी भगवान के सामने पुत्र, पैसा, स्वास्थ्य आदि की याचना करता है, अभिलाषा सहित भक्ति करता है अथवा अन्यमती जैसा सरागी देव-देवता, कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्रों के वश होकर गृहित मिथ्यात्व का पोषण करता है।

कोई विशिष्ट कार्य अपनी इच्छा के अनुसार होने पर अपना अभिमान पुष्ट करता है तथा अपनी इच्छा के विरुद्ध होने पर कर्म पर सारा दोष थोपकर निश्चिंत हो जाता है। छोटे बच्चे को हौवा का भय दिखाकर हम खाना खिलाते हैं या अभ्यास करने के लिए कहते हैं, वैसे इस जीव ने कर्म को हौवा बनाया है। कर्म पुद्गल है और उसकी क्रिया उसके वस्तुत्व गुण से उसके स्वचतुष्टय में होती है। मैं जीवद्रव्य हूँ और मेरा परिणमन मेरे वस्तुत्व गुण से मेरे में हो रहा है इसका इस जीव को पता ही नहीं है।

बेटा! देखो तो सही, एक-एक गुण जानने से कितना लाभ होता है? स्वाध्याय से, तत्त्वचिंतन से वस्तुस्वरुप का यथार्थ ज्ञान होते ही उसका फल भी तत्काल ही मिलता है। आज पुण्यकार्य करो और कुछ काल के बाद उसका फल मिलेगा - ऐसा उधार का धंधा तत्त्वज्ञान में नहीं है। अभी तक तो हम केवल सब द्रव्यों का सामान्य स्वरुप समझने का प्रयास कर रहे हैं। इसके पश्चात् जीवद्रव्य का विशेष स्वरुप समझते समय विशेष आनंद प्राप्त होगा इसमें संदेह नहीं है। उसके पूर्व बाकी के चार सामान्य गुण और भी अभी हमें समझने हैं। वस्तुत्व गुण जानने से जो लाभ होता है उन्हें संक्षेप में फिर से बताती हूँ।

१. प्रत्येक द्रव्य अपनी अपनी प्रयोजनभूत क्रिया करता है इसलिए कोई भी द्रव्य निरर्थक नहीं है।

२. प्रत्येक द्रव्य स्वयं अपना कार्य करता है, दूसरे अन्य द्रव्य का कार्य नहीं करता।

३. प्रत्येक द्रव्य का कार्य उसके वस्तुत्व गुण के कारण से होता है। अन्य द्रव्य के कारण नहीं होता। वस्तु तो स्वतंत्र है ही, प्रत्येक वस्तु का कार्य भी स्वतंत्र है।

४. मैं जीवद्रव्य हूँ और जानना मेरा कार्य है, उसके लिए मुझे अन्य द्रव्य की आवश्यकता नहीं है।

५. मैं परद्रव्य का कार्य कर सकता हूँ इस कर्तृत्वबुद्धि का अभाव होकर निराकुलता की प्राप्ति होती है।

६. परद्रव्यों का परिणमन उनके स्वयं के स्वचतुष्टय में होता है। ऐसा जानने से परद्रव्यों के प्रति राग-द्वेष उत्पन्न नहीं होते।

७. मेरे में जो राग-द्वेष होते हैं, वे मेरे अपने ही कारण से होते हैं, परपदार्थों के कारण से नहीं।

८. सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होकर अपूर्व शांति का अनुभव होता है।

वस्तुत्व गुण का स्वरुप बतानेवाला यह पद्य देखो -

वस्तुत्व गुण के योग से, हो द्रव्य में स्व-स्वक्रिया ।
स्वाधीन गुण-पर्याय का ही पान द्रव्यों ने किया ॥
सामान्य और विशेषता से कर रहे निज काम को ।
यों मान कर वस्तुत्व को पाओ विमल शिवधाम को ॥

वस्तुत्व गुण के बाद द्रव्यत्व गुण की चर्चा आगामी पत्र में करेंगे।

तुम्हारी माँ

❁ ❁

❁ सब जीव सत् सुख को शीघ्र चाहते हैं। उस सुख की प्राप्ति सर्व ❁
❁ कर्मों के क्षय से होती है। कर्मों का क्षय सम्यक् चारित्र से होता है। ❁
❁ सम्यक्चारित्र सम्यग्ज्ञान से निश्चित प्राप्त होता है। वह सम्यग्ज्ञान ❁
❁ आगम से होता है। आगम श्री जिनवाणी के उपदेश के आधार से है। वह ❁
❁ उपदेश अरहंत आप्त पुरुष द्वारा प्राप्त होता है। वह आप्त पुरुष यथार्थ है ❁
❁ कि जो रागादि दोषों से रहित हो। इसलिए हे सज्जनो ! योग्य रीतिसे ❁
❁ विचार करके सुखरुपी लक्ष्मी के लिए सच्चे आप्त पुरुष का शरण ग्रहण ❁
❁ करो। ❁
❁ **- श्री. गुणभद्राचार्य 'आत्मानुशासन'** ❁

❁ ❁

पत्रांक १२ २९ नवम्बर १९९४

द्रव्यत्व गुण

प्रिय रीना एवं मोना,

अनेक उत्तम शुभाशीर्वाद।

जैन सिद्धांतों का अभ्यास, जो प्रत्येक जीव को हित का मार्ग दिखानेवाला है, कितनी रुचि-उत्सुकता और उत्साह बढ़ाता है इसकी प्रतीति पुणे में हुई। पर्युषण पर्व में तुम्हारे दादा रोज तीन प्रवचन देते थे। डॉ. किरण शहा - श्रीमती मुग्धा शहा ने यह कार्यक्रम आयोजित किया था। वहाँ दादा ने हमेशा की तरह लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका पढ़ाना प्रारंभ किया। लोगों में इतनी रुचि उत्पन्न हुई कि दुबारा अष्टाह्निका में (१० नवम्बर से १७ नवम्बर) आठ दिन प्रतिदिन पाँच घण्टों का प्रवचनों का प्रोग्रॅम उन्होंने हम दोनों का बनाया। यह शिबिर श्री. विजय दोशी - श्रीमती ममता दोशी ने आयोजित किया था। उस समय से वहाँ अब रोज नियमित रुप से स्वाध्याय तो चल ही रहा है, इसके अलावा और एक दस दिन का शिबिर २० एप्रिल ९५ से श्री. प्रशांत दोशी - श्रीमती प्रज्ञा दोशी आयोजित करने जा रहे हैं। उस समय हम दोनों मिलकर प्रतिदिन आठ घण्टों प्रवचन करनेवाले हैं। विद्यालय और महाविद्यालयों के छात्र तथा बुजुर्ग सब मिलकर १०० - १२५ लोग बड़े उत्साह से भाग लेते हैं। तत्त्वज्ञान की महिमा ही ऐसी अपूर्व है। बुद्धिमान व्यक्ति उसे शीघ्र जान लेते हैं।

गत दो पत्रों में हमने अस्तित्व और वस्तुत्व गुणों का स्वरुप समझा। सब द्रव्यों में पाये जानेवाले सामान्य गुणों की चर्चा हम कर रहे हैं। छह सामान्य गुणों में से द्रव्यत्व गुण का स्वरुप आज हम लिखेंगे।

अस्तित्व गुण बताता है कि द्रव्य की सत्ता अनादि अनंत है। वस्तुत्व गुण दर्शाता है कि प्रत्येक द्रव्य का कार्य अर्थात् परिणमन उस द्रव्य के स्वयं के कारण होता है।

द्रव्यत्व गुण यह सिद्ध करता है कि प्रत्येक द्रव्य का यह परिणमन निरंतर अखंडता से चलता रहता है। एक समय का भी विराम लिये बिना प्रत्येक द्रव्य हर समय अपना कार्य करता है। द्रव्यत्व गुण की परिभाषा ही यह है, 'जिस शक्ति के कारण द्रव्य की अवस्था निरंतर बदलती रहे, उस शक्ति को द्रव्यत्व गुण कहते हैं।' द्रव्य कायम रहकर उसकी अवस्था निरंतर बदलती है। इस कारण उत्पाद और व्यय अखंड प्रवाहरुप से सदा चलते ही रहते हैं। पर्याय एक समय से अधिक काल

तक टिक ही नहीं सकती। अपनी अवस्था निरंतर (अंतर पड़े बिना) पलटने का यह गुण प्रत्येक द्रव्य में न रहता तो द्रव्य 'कूटस्थ' बनने का प्रसंग आता। द्रव्य जिस अवस्था में है, उसी अवस्था में कायम रह जाता। रोगी हमेशा रोगी ही रहता, निरोगी नहीं बन पाता। बालक छोटा ही रह जाता, युवा नहीं हो पाता। संसार अवस्था का नाश होकर सिद्ध अवस्था न हो पाती।

दूध से दही हुआ, कैरी से आम हुआ, शिष्य को ज्ञान हुआ, रोगी निरोगी हुआ। ये सभी परिणमन द्रव्यत्व गुण के कारण ही होते हैं।

प्रत्येक द्रव्य में - द्रव्य के प्रत्येक गुण में निरंतर जो परिणमन होता है वह उसके अपने द्रव्यत्व गुण के कारण ही होता है। परंतु आज तक हम ऐसा मानते आ रहे हैं कि इस कार्य का कर्ता कोई परद्रव्य है। गुरु से ज्ञान हुआ, डॉक्टर के कारण रोग ठीक हुआ - ऐसा जो कहते हैं, यह सब निमित्त का कथन है, उपचार से ऐसा कहने में आता है; परंतु वस्तुस्थिति वैसी नहीं है। यह बात हमें जाननी ही चाहिए।

कैरी हरी थी, खट्टी थी, कठिण थी वही पलटकर आम पीला, मधुर और नरम हुआ। यह पलटी हुअी अवस्था पंद्रह दिन बाद हमारी समझ में आयी। हम मानते हैं कि हमने कैरी को ठीक रीति से घास में (अढ़ी) में रखकर पकाया। परंतु कैरी पक गयी - आम बना उसमें द्रव्यत्व गुण अंतरंग निमित्त है और कालद्रव्य बहिरंग निमित्त है। प्रत्येक गुण स्वतंत्ररुप से परिणमित होता है। वर्ण गुण की हरी अवस्था पलटकर पीली हुअी उसका कर्ता वर्ण गुण है। रस गुण की खट्टी अवस्था पलटकर मिठी अवस्था हुई, उसका कर्ता रस गुण है, स्पर्श गुण की कठिण यह पर्याय पलटकर नरम यह पर्याय हुई उसका कर्ता स्पर्श गुण है। वस्तु की स्वतंत्रता ही ऐसी है। प्रत्येक गुण ही स्वतंत्र रुप से अपना अपना कार्य करता है इतना ही नहीं, प्रत्येक समय की पर्याय भी स्वतंत्र रुप से उस समय की योग्यता के अनुसार उत्पन्न होती है। वर्तमान पर्याय भूत पर्याय के कारण नहीं बनती और भविष्य पर्याय का कर्ता वर्तमान पर्याय नहीं है। पहली पर्याय का नाश होता है उसी समय दूसरी पर्याय उत्पन्न होती है। जो स्वयं विनाश को प्राप्त हो गया हो वह अन्य किसी को कैसे उत्पन्न कर सकता है ?

तुम कहोगी, 'काल द्रव्य ने तो परिणमन कराया ही है न ? काल द्रव्य को तो कर्ता मानोगे की नहीं ?' उसका उत्तर है कि कालद्रव्य बहिरंग निमित्त है और निमित्त अकिंचित्कर होता है अर्थात् निमित्त कार्य में कुछ भी नहीं करता। यह कैसे संभव है देखते हैं -

प्रत्येक द्रव्य हर समय अपना - अपना परिणमन कर रहा है। काल द्रव्य भी अपने द्रव्यत्व गुण के कारण निरंतर परिणमन कर रहा है। उसके एक पर्याय को

एक समय कहते हैं। असंख्यात समयों का एक सैकंड, ६० सैकंडों का एक मिनट होता है। घण्टा, दिन, महिना, वर्ष ..... आदि को 'व्यवहारकाल' कहते हैं। एक सैकंड में कालद्रव्य असंख्यात बार परिणमता है - उदाहरण के तौर पर मानो कि १०० बार परिणमित हुआ। प्रत्येक द्रव्य एक सैकंड में १०० बार परिणमित होता है। एक - एक अवस्था पलटकर उनकी भी १०० अवस्थायें पलटीं। इस परिणमन का कारण है उन द्रव्यों का अपना-अपना द्रव्यत्व गुण। १ ली पर्याय से १०० वी पर्याय तक १ सैकंड काल बीता। और एक दृष्टांत देखने से जल्दि समझमें आयेगा।

एक नवजात बालक है। उसके शरीर की अवस्था हर समय पलटती हुअी एक साल बाद विशिष्ट अवस्था प्राप्त हुअी। बालक का विकास हुआ, शरीर बढ़ गया। यह विकास कितना हुआ इसे देखने के लिए हम उस बालक की लम्बाई (Height), वजन (Weight), बालक की मानसिक और शारीरिक प्रगति (Mile Stones) आदि बातों का निरीक्षण करते हैं। परंतु अलग अलग बच्चों का शारीरिक या मानसिक विकास कम ज्यादा होता है इसलिए कितनी बार अवस्था पलटी यह बताने के लिए कितना काल व्यतित हो गया अर्थात् कितनी बार उसने परिणमन किया यह बताने के लिए काल की सापेक्षता से बालक एक साल का हुआ ऐसा हम कहते हैं। परंतु पुद्गल (शरीर) और कालद्रव्य ये दो भिन्न द्रव्य हैं और वे अपने अपने परिणमन का कर्ता हैं।

विद्यार्थी परीक्षा में तीन घंटे बैठकर जो पेपर लिखते हैं। वह कार्य विद्यार्थी स्वयं करते हैं या तीन घण्टे की अवधि लिखने का कार्य करती है ? एक व्यक्ति का हाथ जल गया। उसने मुझसे पूछा, 'डॉक्टर, यह जखम, कब ठीक होगा ?' जखम के लक्षणों को देखकर मैंने बताया, इसे ठीक होने में आठ दिन लगेंगे। मेरे कहे अनुसार उसका जखम ठीक हो गया। रोगी की अंगभूत शक्ति के कारण उसकी रोगी अवस्था पलटकर निरोगी अवस्था प्राप्त हो गयी। इस शक्ति को ही हम द्रव्यत्व गुण कहते हैं। जखम ठीक होने की शक्ति उसमें ही थी और यह कार्य हर समय चल ही रहा था, समय-समय करके आठ दिनों बाद निरोगी अवस्था प्राप्त हुअी। यह अवस्था शरीर की, शरीर में, शरीर के गुणधर्म के कारण हुअी। शरीर में कितनी अवस्थायें पलटने के बाद यह विशिष्ट अवस्था हुअी इसे नापने के लिए कालद्रव्य की कितनी अवस्थायें हुअी इसे गिनकर हम कहते हैं आठ दिन बीते। कालद्रव्य ने मात्र अपने में परिणमन किया, शरीर में कोई हेर - फेर नहीं किया। फिर भी उपचार से हम कहते हैं कि यह कार्य काल के कारण हुआ। यह उपचार का आरोप जिस द्रव्य पर आ सकता है उसे निमित्त कहते हैं। परंतु निमित्त कार्य में कुछ भी नहीं करता, इसे हमने अभी अभी समझा है।

समय-समय, क्षण-क्षण करते हुए काल का प्रवाह अखंड रीति से चलता रहता है। काल कभी भी रुकता नहीं है इससे तो हम आप सब परिचित ही हैं। काल

एक द्रव्य है, तद्वत् ही अन्य सभी द्रव्यों की अवस्थाओं का प्रवाह अखंडरुप से हर समय एक एक पर्याय इस रीति से यह पर्यायक्रम निरंतर चलता रहता है। ये सब खाली बातें नहीं हैं, इसे शास्त्राधार है। दो हजार साल पूर्व कुंदकुंदाचार्य ने समयसार लिखा, उसके एक हजार साल पश्चात् आचार्य अमृतचंद्र ने उस ग्रंथ पर टीका (ग्रंथ का विश्लेषण) लिखी जिसे 'आत्मख्याति' या 'समयसार कलश' कहते हैं। उसमें ६५ वा कलश (कर्ता कर्म अधिकार का २० वा कलश) इसतरह है -

स्थितेति जीवस्य निरंतराया स्वभावभूता परिणाम शक्तिः ।
तस्या स्थितायां स करोति भावं च स्वस्य तस्यैव भवेत् स कर्ता ॥

अर्थ : चेतनद्रव्य का / जीवद्रव्य का परिणमन रुप सामर्थ्य अनादि से विद्यमान है ऐसा द्रव्य का सहज स्वभाव है। यह परिणामशक्ति निरंतराया अर्थात् प्रवाह रुप है - एक समय मात्र खंड उसमें नहीं होता। उस परिणामशक्ति द्वारा जीव जो भाव (शुद्ध या अशुद्ध) करता है उसका कर्ता वह जीव स्वयं ही है।

हमें कभी कभी बहुत क्रोध उत्पन्न होता है, गुस्सा आता है, उस समय हम अन्य व्यक्ति को क्रोध का कारण मानते हैं, परंतु असल में इस क्रोध का कर्ता हम स्वयं ही है।

द्रव्य पलटते हुअे भी कायम रहता है, अनित्य होते हुअे भी नित्य रहता है। निरंतर पलटने रुप पर्यायगत स्वभाव द्रव्य का ही है और निरंतर पलटते हुअे भी ध्रुव-त्रिकाली स्वभाव रुप से कायम रहने का स्वभाव भी द्रव्य का ही है। द्रव्य पलटते हुअे भी नहीं पलटता, यह कैसे संभव हैं ?

दस साल के एक बालक को हम पहचानते हैं। उसी बालक को हमने दस साल बाद देखा, अब वह बीस साल का युवान हो गया है, उसमें बहुत कुछ बदल गया है फिर भी वह वही लड़का है यह बात हमारे ज्ञान में आती है, अवस्था पलटने पर भी वह वही है यह समझ सकते हैं।

एक ही समय में द्रव्य नित्य भी है और अनित्य भी है। यदि हमें आश्रय लेना हो, तो नित्य चीज का ही लेना होगा। पलटने वाले व्यक्ति का हम विश्वास नहीं करते। सदा पलटनेवाली पर्याय की तरफ देखकर हम या तो उसे कायम रखने की इच्छा करते हैं या अपनी इच्छा के अनुरुप विशिष्ट पर्याय प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं। परंतु यह बात वस्तुस्वरुप से विरुद्ध होने के कारण ऐसा हो नहीं सकता और उस कारण से हम दुःखी होते हैं। वस्तुस्वरुप का सही ज्ञान होने पर ही यह आकुलता और दुःख नष्ट होता है।

शरीर हमेशा युवान रहे, बाल काले से सफेद न हो जायें, पैसा व परिवार का संयोग कायम रहे, इसप्रकार से यह जीव वर्तमान पर्याय को कायम टिकाना

चाहता है और उसकी इच्छा के अनुरुप घटित नहीं होता तब दुःखी होता है। कदाचित इच्छा के अनुसार कार्य हुआ (बच्चों की पढ़ाई आदि) तो मिथ्या अहंकार करके अपने को उसका कर्ता मानता है।

द्रव्यत्व गुण जानने से कितना सारा लाभ हुआ, है ना? वह मुख्यतः इसप्रकार है :-

१. प्रत्येक द्रव्य अनादि अनंत कायम रहता हुआ अपनी अवस्था निरंतर बदलता है - यह उस द्रव्य के द्रव्यत्व गुण के कारण होता है, परद्रव्य या निमित्त कुछ भी कर नहीं सकता।

२. जीव की पर्याय शरीर के कारण, कर्म के कारण, ईश्वर के कारण, अन्य जीवों के कारण, अजीवों के कारण पलट नहीं सकती।

३. अन्य किसी की भी पर्याय मेरे कारण से पलट नहीं सकती। आज तक मैं अन्य का कर्ता धर्ता हूँ ऐसी मिथ्याबुद्धि थी, उसका नाश हुआ।

४. पर्याय जितना ही मैं हूँ ऐसा मानने के कारण मैं दुःखी हो रहा था, परंतु अनित्यता याने पलटना यह पर्यायगत स्वभाव है, मैं तो अनादि अनंत नित्य हूँ ऐसा जानने से आकुलता नष्ट हो गयी।

५. विशिष्ट प्रिय व्यक्ति का मरण क्यों हुआ? वैभव था अब गरीबी क्यों आयी? किसी को अपंगत्व क्यों है? अमुक घटना ऐसी ही क्यों हुअी? आदि विचारों का तुफान मन में मच जाता है और हम चिंतित - व्यथित हो जाते हैं। द्रव्यत्व गुण के कारण से यह परिणमन उस विशिष्ट द्रव्य में हो रहा है ऐसा योग्य कारण समझ में आने से मन को शांति मिलती है।

६. वर्तमान में जो मिथ्यात्व अवस्था है वह पलटकर सम्यक्त्व प्राप्त करने की शक्ति प्रत्येक जीव में है। सम्यग्दर्शन का यह कार्य जीव स्वयं ही स्वयं में कर सकता है। अरहंत से, शास्त्रों के पठन पाठन से, यात्रा-पूजा करने से यह सम्यग्दर्शन का कार्य नहीं होगा। परंतु श्रद्धा गुण की मिथ्यात्व अवस्था पलटकर श्रद्धा गुण स्वयं ही सम्यक्त्व अवस्था रुप से परिणमनेवाला है।

ऐसा होने के लिए तत्त्वनिर्णय की नितांत आवश्यकता है, उसके लिए हमारा पत्ररुप स्वाध्याय चल ही रहा है। इन पत्रों को पुस्तक रुप कब दोगी ऐसा सवाल अनेक वाचक पूछते हैं। उस सवाल का भी यही उत्तर है कि इसकी पुस्तक रुप अवस्था इस के द्रव्यत्व गुण के कारण से ही होगी। वह जब होनेवाली होगी तब होगी, उसे मात्र जानने का ही कार्य हम कर सकते हैं। शेष चर्चा आगामी पत्र में करुंगी।

तुम्हारी माँ

पत्रांक १३ १० जनवरी १९९५

प्रमेयत्व गुण

प्रिय रीना एवं मोना,

अनेक उत्तम शुभाशीर्वाद।

अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व गुण समझने से वस्तुस्वरुप की पहचान होने से अधिक जानने की जिज्ञासा जागृत हुअी है ऐसा तुम दोनों ने बताया, बहुत आनंद हुआ। पढ़नेवाले व्यक्ति की तीव्र रुचि देखकर पढ़ानेवाले का भी उत्साह द्विगुणित होता है, इसलिए वाचकों से पत्रों की प्रतिक्रियायें सदा स्वागतार्ह हैं।

गत पत्र में द्रव्यत्व गुण का दोहा नहीं लिखा ऐसा तुमने कहा है। वह इसप्रकार है -

द्रव्यत्व गुण इस वस्तु को जग में पलटता है सदा ।
लेकिन कभी भी द्रव्य तो तजता न लक्षण सम्पदा ।
स्व-द्रव्य में मोक्षार्थी हो स्वाधीन सुख लो सर्वदा ।
हो नाश जिससे आज तक की दुःखदायी भव कथा ॥

द्रव्यत्व गुण की चर्चा में, 'सम्यग्दर्शन की पर्याय द्रव्यत्व गुण के कारण से श्रद्धा गुण में होती है। अरिहंत से, दिव्यध्वनि से, स्वाध्याय से, पूजा से या अन्य क्रियाओं से नहीं होती' इसे पढ़कर रीना तुमने पूछा है कि, 'शास्त्रों में पुण्य को त्यागने योग्य (हेय) बताया है, फिर माँ, आप और पिताजी तो प्रतिदिन प्रक्षाल - पूजन, अष्टक, स्वाध्याय आदि करते हैं, यह कैसे?' यह बहुत ही मार्मिक प्रश्न है।

बचपन में तुम दोनों तैरना सीख रही थी, याद है? शुरुवात में पीठ पर डिब्बा बांधकर पानी में उतरती थी और हाथ पैर हिलाने की प्रैक्टिस किया करती थी। मार्गदर्शन के साथ सीखते हुअे, योग्य तरीके से तैरने की कला हासिल होने तक, पानी के ऊपर तैरने के लिए डिब्बे की आवश्यकता थी। परंतु उस समय सिखानेवाले और सीखनेवाले को भी पक्का विश्वास था कि यह डिब्बा जल्द से जल्द छोड़ने योग्य है अर्थात् 'हेय' है। डिब्बा छोड़कर स्वतंत्र रुप से तैरना योग्य है परंतु जल्दबाजी में डिब्बा छोड़कर डूब जाना योग्य नहीं है।

तद्वत् ही शास्त्र स्वाध्याय, जिनेन्द्र दर्शन, पूजन आदि का आधार - अवलंबन लेकर हमें तत्त्वनिर्णय करके शुद्धात्मानुभूति करनी है। इन सब बातों का आधार उनमें अटकने के लिए नहीं अपितु उसमें से आगे बढ़ने के लिए है। परंतु ये सब

छोड़कर स्वच्छंदता से पापों में मग्न होना योग्य नहीं है। समयसार ग्रंथ में शुभभावों को 'हस्तावलंब' कहा है। ऊपर की मंजिल पर जाने के लिए सीढ़ी चढ़ते समय रेलिंग का सहारा लेकर ऊपर चढ़ते हैं मगर मंजिल पर कदम रखते समय रेलिंग का सहारा छोड़कर याने हस्तावलंब छोड़कर ही आगे बढ़ना पड़ता है। तद्वत् जिनेंद्र भगवंतों का दर्शन, उनके बताए हुए उपदेश का श्रवण, चिंतन व तत्त्वनिर्णय किये बिना आत्मानुभव नहीं होगा इसलिए ये सब बातें कार्यकारी, उपयुक्त हैं ही; परंतु आत्मानुभव के समय में इन बातों का आधार छूट ही जाता है। विकल्पों में जब तक ये बातें होगी तब तक आत्मानुभव नहीं होगा। यह बात ध्यान में रखकर पुण्य को 'हेय' कहा है।

इन बातों का ग्रहणपूर्वक त्याग होता है। जैसे, महाविद्यालय में प्रवेश प्राप्त करते समय हम S.S.C. उत्तीर्ण होकर विद्यालय का त्याग करते हैं। जो कभी विद्यालय में ही नहीं गया अथवा S.S.C. होने के पूर्व आधी अधूरी पढ़ाई करके विद्यालय छोड़ देता है वह महाविद्यालय में प्रवेश प्राप्त करने के लिए पात्र नहीं होता, लायक नहीं होता। उसीतरह शास्त्र स्वाध्याय से वस्तुस्वरुप का ज्ञान प्राप्त करके तत्त्वों का यथार्थ निर्णय हुए बिना आत्मानुभव नहीं होगा, परंतु जिस समय आत्मानुभव होता है उस समय आत्मासंबंधी विकल्प भी छूट जाते हैं, निर्विकल्प अवस्था होती है।

आज का हमारा विषय है 'प्रमेयत्व गुण'। उसकी परिभाषा इसतरह है, 'जिस शक्ति के कारण से द्रव्य किसी ना किसी ज्ञान का विषय बनता है उसे प्रमेयत्व गुण कहते हैं।' सरल भाषा में कहना हो तो, प्रत्येक द्रव्य में ऐसी शक्ति है जिसके कारण से वह द्रव्य ज्ञान में झलकता है, जाना जाता है। जिसतरह जीव द्रव्य में जानने की शक्ति है जिसे ज्ञानगुण कहते हैं उसीतरह प्रत्येक द्रव्य में 'ज्ञान में झलकना', 'किसी के ज्ञान में जाना जा सकना' ऐसी शक्ति है, जिसे प्रमेयत्व गुण कहते हैं। सभी द्रव्यों में पाया जानेवाला ऐसा यह सामान्य गुण होने के कारण प्रत्येक द्रव्य ज्ञान में झलकता है, जाना जाता है, इसलिए विश्व में ऐसी कोई भी बात बाकी नहीं रहती जो ज्ञान से जानी नहीं जा सकती, ज्ञान में नहीं झलकती। विश्व का स्वरुप अनजाना Unknown नहीं रह सकता, गुप्त नहीं रह सकता।

तुम कहोगी, 'ऐसी कितनी सारी बातें हैं। जिसका हमें ज्ञान नहीं है, हम जिन्हें नहीं जान सकते।' अरी सुन तो सही, प्रमेयत्व गुण यह बता रहा है, कि प्रत्येक द्रव्य किसी ना किसी ज्ञान में झलकता ही है। T.V. पर हम क्रिकेट मॅच देखते हैं तब कभी कभी ऐसा होता है कि विशिष्ट खिलाड़ी आऊट हो गया है या नहीं यह बात दोनों ही अम्पायर्स के ज्ञान में नहीं आती, उस समय तीसरे (Third) अम्पायर की मदद याने राय ली जाती है अर्थात् अलग अलग दिशाओं में रख्खे हुअे T.V. कैमेरे से चित्रित किये हुअे मॅच के दृष्य फिरसे देखकर निर्णय दिया जाता

है। 'किसी ना किसी ज्ञान में आना या झलकना' का अर्थ अब समझ में आया होगा, इसी को प्रमेयत्व गुण कहते हैं।

दूसरा सरल दृष्टांत देखेंगे। सुगंध आँखों से दिखायी नहीं देती परंतु नाक (घाणेंद्रिय) से जानी जाती है, आवाज को अन्य इंद्रियों से नहीं जाना जा सकता, कर्णों से जान सकते हैं और खट्टा मिठा स्वाद आँखों से या कानों से नहीं परंतु जिव्हा (रसनेंद्रिय) से जाना जा सकता है। जो चीज आँखों से दिखती है वह अन्य इंद्रियों से ज्ञात होगी ही ऐसा नहीं है। पुद्गल के स्पर्श, रस, गंध, वर्ण गुण तथा शब्द ज्ञान में जाने जा सकते हैं ऐसी प्रमेयत्व नाम की शक्ति उस पुद्गल में है। सुई में धागा पिरोते समय मुझे दिखायी नहीं देता, परंतु तुम्हें दिखता है अर्थात् जो मेरे ज्ञान में नहीं आया वह तुम्हारे ज्ञान में आ गया।

जीर्ण रोग से त्रस्त रोगी अपने रोग के निदान एवं चिकित्सा के लिए अनेक डॉक्टरों से जाँच करवाता है। कभी डॉक्टर, कभी वैद्य, कभी और कोई। उसे भी एक ही आशा रहती है कि इस रोग का निदान किसी ना किसी के ज्ञान में आयेगा और वह औषधी बतलाकर मुझे ठीक कर देगा, मेरा ईलाज करेगा।

प्रमेयत्व गुण के कारण द्रव्य किसी ना किसी ज्ञान का विषय होता है ऐसा कहने पर सहज ही प्रश्न उठता है कि ज्ञान के भी प्रकार हैं क्या? और वे कितने हैं व कौनकौनसे हैं? उसका उत्तर है - ज्ञान गुण तो एक है। परंतु जानने का कार्य पर्याय में होता है इसलिए पर्याय की अपेक्षा से ज्ञान के भेद बताये जाते हैं। वे इसप्रकार हैं – मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान। उसके विस्तार में न जाते हुऐ संक्षेप में कहना हो तो अरिहंत और सिद्धों को छोड़कर अन्य सब जीवों को मतिज्ञान और श्रुतज्ञान होता है। देश, काल, द्रव्य आदि की मर्यादा सहित याने विशिष्ट क्षेत्र की मर्यादा में, विशिष्ट काल की मर्यादा में रूपी पदार्थों के बारे में जो ज्ञान होता है वह अवधिज्ञान है। विशिष्ट भावलिंगी मुनियों को दूसरे के मन में स्थित रुपी पदार्थों के विचार जानने की जो शक्ति होती है उसे मनःपर्ययज्ञान कहते हैं। केवलज्ञान का अर्थ है सबकुछ जानने की शक्ति । एक ही समय में युगपत् (एकसाथ) विश्व के अनंतानंत द्रव्य, प्रत्येक द्रव्य के अनंत गुण, उनमें से प्रत्येक गुण की भूत-वर्तमान-भविष्य कालीन अनंत पर्यायें और प्रत्येक पर्याय के अनंत अविभाग प्रतिच्छेद इन सब को प्रत्यक्ष जाननेवाला जो ज्ञान है उसे केवलज्ञान कहते हैं। जिन्हें केवलज्ञान प्रगट हो गया उन्हें 'केवली' कहते हैं - 'सर्वज्ञ' कहते हैं। अरिहंत और सिद्ध सर्वज्ञ हैं ऐसा हमने पत्र नं. १ और २ में देखा ही था।

इससे सिद्ध होता है कि विश्व में ऐसी एक भी बात नहीं, एक भी द्रव्य, गुण, पर्याय नहीं है कि जो केवलज्ञान में नहीं जानी जा सकती। केवलज्ञान में सर्व बातें

जानने की ताकद है वैसे प्रत्येक द्रव्य में ज्ञान में झलकने की ताकद है। अन्य किसी ज्ञान में चाहे झलके या न झलके, केवलज्ञान में तो सभी द्रव्य झलकते ही हैं।

प्रमेयत्व गुण को जानने से सर्वज्ञ की सिद्धि तो होती ही है, क्रमबद्ध पर्याय की सिद्धि भी हो जाती है। केवलज्ञान में सब द्रव्य जाने जाते हैं - झलकते हैं, उनके अनंत गुण भी झलकते हैं और प्रत्येक गुण की अनादि अनंत काल की सभी पर्यायें भी झलकती हैं। तात्पर्य यह हुआ कि कौनसी पर्याय कब होगी, किस पर्याय के बाद कौनसी पर्याय होगी, उस समय अन्य द्रव्यों की अवस्थायें क्या होगी, काल की अपेक्षा से कौनसा काल होगा, निमित्त रुपसे कौन से द्रव्य होंगे इन सभी बातों का ज्ञान अनंत केवलियों के ज्ञान में आया है, आ रहा है। इसीका तात्पर्य यह हुआ कि सभी बातें, घटना सुनिश्चित हैं।

'बाप रे बाप! तो फिर हम व्यर्थ ही मेहनत कर रहे हैं। जब जो होनेवाला है वह होगा, फिर हमें स्वाध्याय करने की जरुरत नहीं है' ऐसी स्वच्छंदता - ऐसा पलायन कोई करता होगा तो इस पर से उस जीव की रुचि कहाँ है यह सिद्ध होता है। जिसे आत्मानुभव याने सम्यग्दर्शन की पर्याय प्रकट होती है उससे पूर्व की पर्यायें भी केवली के ज्ञान में झलकती ही हैं।

जिनेन्द्रकथित तत्त्वोपदेश सुनकर ही तत्त्वनिर्णय, तत्त्वनिर्णयपूर्वक ही पुरुषार्थ, पुरुषार्थपूर्वक ही आत्मानुभूति, आत्मानुभूतिपूर्वक ही चारित्रदशा व ऐसी मुनिदशापूर्वक ही मोक्षदशा ऐसा पर्यायों का क्रम भी उनके ज्ञान में आया है। उनके ज्ञान में ज्ञात हुअी ये बातें ही दिव्यध्वनि रुप से वाणी में आयी, वह वाणी सुनकर गणधरोंने और अनेक आचार्यों ने तद्वत् अनुभव करके शास्त्रों की रचना की और इसतरह से परंपरा से सर्वज्ञ का उपदेश आज हमें प्राप्त है यह हमारा सद्भाग्य है।

प्रमेयत्व गुण का स्वरुप ध्यान में आनेपर एक बात हमारी समझ में आती है कि हम जो कुछ कर रहे हैं वे सभी बातें, सभी कार्य, सभी विचार अन्य किसी के ज्ञान में शायद आ सके या नहीं आ सके, केवली के ज्ञान में तो आते ही हैं। मात्र एक ही केवली के नहीं परंतु सर्व अनंत केवलियों के। ऐसा जानते ही तीव्र पाप करने का भाव, चोरी करने का भाव, मिलावट या भेलसेल करने का भाव, झूठ बोलने का भाव उस जीव को नहीं होगा। जो व्यक्ति प्रमेयत्व गुण का स्वरुप जानता है, केवली का स्वरुप जानता है वह व्यक्ति अनंत केवलियों के साक्षी में पाप करने के लिए उद्युक्त नहीं होगा। समाज में हमें कुछ ऐसे भी व्यक्ति दिखायी देते हैं कि जो शास्त्रों का अभ्यास करने पर भी अन्याय और अनीति का आचरण करते हैं। ऐसा क्यों? ऐसा प्रश्न तुम मुझसे पूछोगी। उसका यही उत्तर है कि उन्होंने शास्त्रों का मर्म नहीं जाना, केवली का स्वरुप भी नहीं जाना। ऐसे व्यक्ति

अगर केवली का याने अरिहंत - सिद्धों का स्वरुप ही नहीं जानते तो उनका णमोकार मंत्र पढ़ना व्यर्थ है, उन्होंने सच्चे अर्थ में भगवान को नमस्कार भी नहीं किया ऐसा कहना पड़ेगा। परंतु ऐसे लोगों का उदाहरण देखकर यदि हम शास्त्राभ्यास छोड़ दें तो हमारे जैसे मूरख हम ही होंगे, ऐसा मूरख ढूँढने पर भी नहीं मिलेगा।

हम कहते हैं कि आज के वैज्ञानिकों ने कितने सारे आविष्कार किये हैं, पहले तो कुछ भी नहीं था। जैसे, अणुऊर्जा - Atomic energy का आविष्कार आज के वैज्ञानिकों ने किया। अरी! अणु में ऊर्जा होती है इसे तो इन वैज्ञानिकों ने अभी जाना। उन वैज्ञानिकों ने अणु में ऊर्जा निर्माण नहीं करायी, उस ऊर्जा का उन्हें ज्ञान हुआ। अणु में याने पुद्गल में प्रमेयत्व शक्ति होने से वह किसी ना किसी ज्ञान में झलका। सर्वज्ञ के ज्ञान में तो यह पहले से ही ज्ञात था, उसी समय उनके ज्ञान में यह भी ज्ञात हुआ था कि किस काल में, किस व्यक्ति के ज्ञान में ये बातें जानी जाएगी। अर्थात् कब कौन-सा आविष्कार होगा।

प्रमेयत्व शक्ति जाननेपर कोई भी बात 'चमत्कार' नहीं लगती। जिन बातों से हम परिचित नहीं है वे बातें हमें 'चमत्कार' या 'आश्चर्य' प्रतीत होती हैं। परंतु वस्तु स्वरुप की दृष्टि से देखनेपर उसमें विस्मयकारक कुछ भी नहीं होता।

तत्त्वज्ञान मात्र तत्त्वज्ञान करने के लिए ही लाभदायक है ऐसा नहीं परंतु हमारे दैनंदिन लौकिक जीवन में भी बहुत कार्यकारी है - उपयुक्त है। किसी प्रिय व्यक्ति का मरण होने पर शोक से आदमी पागलसा हो जाता है। परंतु उस समय अगर वहाँ कोई तत्त्वज्ञान का जानकार होगा तो वह सोचेगा कि, 'यह जीव जो इस शरीर के संयोग में था अब इस शरीर से वियोग होकर यहाँ से निकल गया है, उसमें अस्तित्व गुण होने के कारण उसका नाश नहीं हुआ है, उसका अस्तित्व कहीं ना कहीं तो है ही, उसमें प्रमेयत्व गुण होने के कारण वह किसी ना किसी ज्ञान में आ रहा है कि अब वह कहाँ है, किस अवस्था में है।'

जैसे, अपना बेटा खो गया है ऐसा समझने पर किसी माँ को कितना दुःख होगा, परंतु अगर उसे पता है कि मेरा लड़का अमेरिका में है और बड़े सुखचैन में है तो उसे इतनी आकुलता नहीं होगी।

पुद्गल रुपी द्रव्य है, इंद्रियोंद्वारा उसका ज्ञान होता है इसलिए हम केवल उसका ही विश्वास करते हैं। जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये अमूर्तिक - अरुपी द्रव्य हैं और इंद्रियों से नहीं जाने जा सकते इसलिए उन द्रव्यों का अस्तित्व मानने से कुछ लोग इन्कार करते हैं। परंतु उन द्रव्यों में प्रमेयत्व गुण होने के कारण सर्वज्ञ के ज्ञान में तो ये सब द्रव्य आते ही हैं। इनमें से जीवद्रव्य में ऐसी विशेषता है कि उसमें प्रमेयत्व गुण भी है और ज्ञान गुण भी है। आत्मा अपने स्वयं

के ज्ञान गुण द्वारा स्वयं को जान सकता है और अपने प्रमेयत्व गुण के कारण स्वयं के ज्ञान में जाना जा सकता है।

अपने शुद्ध स्वरुप का – अतींद्रिय आनंद का अनुभव अर्थात् वेदन अवश्य अपने स्वयं के ज्ञान में होता है। सम्यग्दर्शन होने पर अपने को नहीं समझता, केवल केवलज्ञानीयों के ज्ञान में ही आता है ऐसा मानना न्यायसंगत नहीं है, शास्त्रसंमत तो बिलकुल नहीं है।

ज्ञान गुण के कारण आत्मा को 'ज्ञायक' कहते हैं और प्रमेयत्व गुण के कारण 'ज्ञेय' अथवा 'प्रमेय' कहते हैं। जीव ज्ञायक है और अन्य सब द्रव्य ज्ञेय हैं। तात्पर्य यह हुआ कि इस विश्व के सब द्रव्यों के साथ जीव का 'ज्ञेयज्ञायक' संबंध है। जीव स्वतंत्रपने से ज्ञायक है और अन्य द्रव्य स्वतंत्रपने से प्रमेय / ज्ञेय हैं। परंतु अन्य द्रव्यों को ज्ञेय न मानकर यह जीव उनमें एकत्व, ममत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व मानकर दुःखी होता है।

आत्मख्याति ग्रंथ में बहुत सुंदर दृष्टांत दिया हुआ है। चंद्र की चांदनी भूमिपर पड़कर भूमि को प्रकाशित करती है। इसलिए वह भूमि चंद्र की तो नहीं हो जाती। चंद्र की तो मात्र चांदनी ही होती है, भूमि तो भूमि की ही रहती हैं। तद्वत् जीव द्रव्य ज्ञान से अन्य द्रव्यों को जानता है अर्थात् प्रकाशित करता है इसलिए अन्य द्रव्य जीव के नहीं हो जाते। जीव का मात्र ज्ञान है, अन्य द्रव्य अन्य द्रव्य के हैं, प्रमेयत्व गुण के कारण ज्ञान में आते हैं - जाने जाते हैं परंतु ज्ञान में प्रवेश नहीं करते। ज्ञान भी सब को जानता है इसलिए ज्ञान को सर्वगत कहते हैं परंतु वह भी अन्य द्रव्य में प्रवेश नहीं करता।

प्रमेयत्व गुण जानने से मुख्यतः क्या लाभ हुआ, फिर से देखेंगे।

१. प्रत्येक द्रव्य अपने प्रमेयत्व गुण के कारण से ज्ञान में ज्ञात होता है, झलकता है।

२. विश्व में रहनेवाले सभी अनंत द्रव्य जाने जाते हैं, कोई भी द्रव्य अज्ञात Unknown रह नहीं सकता।

३. सभी अनंतानंत द्रव्य ज्ञान की एक समय की पर्याय में झलकतें हैं उस ज्ञान को केवलज्ञान कहते हैं। इससे सर्वज्ञ की सिद्धि होती है।

४. प्रत्येक द्रव्य की अनादिअनंत काल की सभी पर्यायें युगपत् केवलज्ञान में झलकती हैं, इसकारण प्रत्येक पर्याय क्रमबद्ध है यह बात ख्याल में आती है अर्थात् क्रमबद्ध पर्याय की सिद्धि होती है।

५. हमारे प्रत्येक कार्य को और परिणाम को सर्वज्ञ अर्थात् अरिहंत सिद्ध जानते हैं यह समझते ही पाप प्रवृत्ति कम होने लगती है।

६. अरुपी द्रव्य जाने जा सकते हैं यह बात सिद्ध होती है।

७. प्रत्येक जीव अपने आप को जान सकता है। अपने को आत्मानुभव अर्थात् सम्यग्दर्शन हुआ है इस बात का जीव को पता चलता है यह बात सिद्ध होती है।

८. परद्रव्यों के साथ मेरा केवल ज्ञेय-ज्ञायक संबंध है, स्वामित्व - कर्तृत्व - भोक्तृत्व संबंध नहीं है इस बात का भान होता है।

देखो तो सही, प्रत्येक सामान्य गुण द्रव्य की स्वतंत्रता का ढिंढोरा पीट रहा है। जितनी अधिक चर्चा करेंगे उतना अधिक मर्म समझ में आता है। प्रमेयत्व गुण संबंधी पद्य लिखकर आज की चर्चा पूरी करती हूँ।

सब द्रव्य-गुण प्रमेय से बनते विषय हैं ज्ञान के,
रुकता न सम्यग्ज्ञान पर से जानियो यों ध्यान से ।
आत्मा अरुपी ज्ञेय निज यह ज्ञान उसको जानता,
है स्व-पर सत्ता विश्व में सुदृष्टि उसको जानता ॥

विशेष चर्चा आगामी पत्र में करेंगे।

तुम्हारी माँ

* *

* जिनको सच्चा जैन बनना हो उनको शास्त्र के आश्रय से तत्त्वनिर्णय करना योग्य हैं; परंतु जो तत्त्वनिर्णय नहीं करते और पूजा, स्तोत्र, दर्शन, त्याग, तप, वैराग्य, संयम, संतोष आदि सर्व कार्य करते हैं, सो उनके सर्व कार्य असत्य हैं। इसलिए आगम का सेवन, युक्ति का अवलंबन, परम्परा गुरुओं का उपदेश और स्वानुभव द्वारा तत्त्वनिर्णय करना योग्य है। *

\- सत्तास्वरुप ३, ४

* *

पत्रांक १४ ७ फरवरी १९९५

अगुरुलघुत्व गुण

प्रिय रीना एवं मोना,

अनेक उत्तम शुभाशीर्वाद।

तुम पत्रों की बहुत आतुरता से राह देखती हो यह अच्छी बात है। इससे वस्तुस्वरुप व आत्मस्वरुप जानने की तुम्हारी तीव्र इच्छा, रुचि, उत्सुकता दिखायी देती है। शास्त्र में कहा ही है -

तत्प्रति प्रीतिचित्तेन येन वार्तापि हि श्रुता ।
निश्चितं स भयेत् भव्यो भाविनिर्वाण भाजनम् ॥

अर्थात् आत्मासंबंधी चर्चा जो प्रीति से - उत्सुकता से सुनता है वह निश्चित ही भव्य है और भविष्य में निर्वाण का पात्र है।

छहों द्रव्यों में पाये जानेवाले सामान्य गुणों की चर्चा हम कर रहे हैं। हमने अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व इन गुणों का स्वरुप, उनका कार्य देखा। उस कारण वस्तुस्वरुप की अर्थात् द्रव्यसंबंधी जानकारी हम समझ रहे हैं। प्रत्येक वस्तु में अनंत गुण एकसाथ विद्यमान हैं, हर समय हैं, सदा ही रहते हैं। वस्तु की सत्ता एक ही है। वस्तु एक ही है और वह वस्तु कैसी है यह बतानेवाले जो गुण हैं वे अनंत हैं। अनंत का कथन करना या सुनना मर्यादा के बाहर है इसलिए द्रव्य का स्वरुप समझने के लिए आवश्यक ऐसे छह सामान्य गुणों की चर्चा शास्त्रों में की है।

आज का अपना विषय है 'अगुरुलघुत्व' गुण। यह गुण अलौकिक है, जैन सिद्धांतों का प्राण है, वस्तुस्वरुप समझने के लिए बड़ा मंत्र है। सच देखा जाये तो, कोई भी गुण बड़ा या छोटा नहीं है, श्रेष्ठ अथवा कनिष्ठ नहीं है; परंतु इसे जानने से वस्तुव्यवस्था अच्छी तरह से हमारे ज्ञान में आती है इसलिए इस गुण को महान कहा है। उसकी परिभाषा है, 'जिस शक्ति के कारण से द्रव्य में द्रव्यपना कायम रहता है, अर्थात् (१) एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरुप नहीं होता, (२) एक गुण दूसरे गुण रुप नहीं होता और (३) द्रव्य में रहने वाले अनंत गुण बिखरकर अलगअलग नहीं होते, उस शक्ति को अगुरुलघुत्व गुण कहते हैं।

अनादिकाल से अनंत द्रव्य अस्तित्व में हैं। उनमें से हर एक द्रव्य का स्वरुप जैसा का तैसा कायम टिकता है, एक द्रव्य पलटकर दूसरे द्रव्य रुप नहीं हो सकता। अनंत गुणों के समूह को द्रव्य ऐसी संज्ञा है। इन अनंत गुणों में से एक भी गुण अलग नहीं हो सकता ऐसी शक्ति प्रत्येक द्रव्य में विद्यमान है। एक भी गुण अगर निकलकर दूसरे द्रव्य में मिल जाये या नष्ट हो जाये तो गुणों के समूह

का भंग होगा अर्थात् द्रव्य के नाश का प्रसंग आयेगा। एक द्रव्य के नाश के साथ विश्व के नाश का प्रसंग आयेगा। परंतु ऐसा हो ही नहीं सकता। प्रत्येक द्रव्य में परद्रव्य रुप न होने की शक्ति है, अनंत गुणों का समूह जैसा है वैसा कायम रहने की शक्ति है, इस शक्ति को ही अगुरुलघुत्व गुण कहते हैं।

अगुरुलघु = अगुरु + अलघु। अ याने नहीं, गुरु याने बड़ा, लघु याने छोटा। 'यह शक्ति द्रव्य को बड़ा या छोटा नहीं होने देती, कायम है वैसा रखती है यह तो समझ गये। परंतु किस के आधार से हम ऐसा माने ?' ऐसा तुम पूछोगी। अब तक के पत्रों में जो सिद्धांत हम पढ़ चुके हैं उनके द्वारा ही हम इसे सिद्ध करेंगे। उसके पूर्व पत्र नं. ७ - 'गुणों का स्वरुप' यह लेख पुनः दुबारा पढ़ो। उसमें प्रत्येक द्रव्य में स्वचतुष्टय अर्थात् स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव होता है उसके बारे में चर्चा की हुअी है।

प्रत्येक द्रव्य का अपना स्वयं का द्रव्य उसका स्वद्रव्य है, उस द्रव्य का विस्तार उसका स्वक्षेत्र है, उस द्रव्य का परिणमन उसका स्वकाल है और उसके अनंत गुण उसका स्वभाव है। भाव अर्थात् गुण। इसे हम दृष्टांत से समझेंगे।

दो द्रव्य हैं A और B, A याने कांच का ग्लास और B याने पानी ऐसा समझो। A द्रव्य में उसका अपना स्वचतुष्टय है वैसे B द्रव्य में भी उसका अपना स्वचतुष्टय है। परंतु A द्रव्य की दृष्टि से देखा जाये तो B द्रव्य का चतुष्टय परचतुष्टय है अर्थात् परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव हैं।

एक द्रव्य के स्वचतुष्टय का परचतुष्टय में प्रवेश हो ही नहीं सकता। उनका एक दूसरे में 'अभाव' है, नास्ति है। इसलिए A द्रव्य B द्रव्यरुप हो नहीं सकता और एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कार्य भी नहीं कर सकता।

A - कांच का स्वद्रव्य कांच में	B - पानी का स्वद्रव्य पानी में
कांच का स्वक्षेत्र कांच में	पानी का स्वक्षेत्र पानी में
कांच का स्वकाल कांच में	पानी का स्वकाल पानी में
कांच का स्वभाव कांच में	पानी का स्वभाव पानी में

प्रत्येक द्रव्य का स्वचतुष्टय अर्थात् द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव भिन्न भिन्न होने के कारण "एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरुप नहीं होता।" यह अपनी परिभाषा का पहला भाग सिद्ध हो गया। अब दूसरा भाग "एक गुण दूसरे गुणरुप नहीं होता" इसे सिद्ध करेंगे। अब सवाल दो द्रव्यों का नहीं, एक ही द्रव्यों के दो गुणों का है। गुण याने भाव। एक द्रव्य के दो गुणों का द्रव्य एक, क्षेत्र एक, काल एक परंतु भाव भिन्न भिन्न होने के कारण एक गुण दूसरे गुणरुप नहीं होता। पुद्गलद्रव्य के वर्ण और रस इन दोनों गुणों की चर्चा कैरी के दृष्टांत से समझेंगे। कैरी में वर्ण (हरा) और रस (खट्टा) इन दो गुणों के बारे में देखेंगे।

जो द्रव्य कैरी का है वही द्रव्य वर्ण गुण का है और वही द्रव्य रस गुण का है। जो क्षेत्र कैरी का है वही क्षेत्र वर्ण गुण का है और वही क्षेत्र रस गुण का है। जो परिणमन काल कैरी का है, वही काल वर्ण गुण का है और वही काल रस गुण का है। परंतु 'भाव' अर्थात् गुण - वर्ण गुण और रस गुण भिन्न भिन्न अर्थात् अलग-अलग अर्थात् स्वतंत्र हैं। इस वजह से एक गुण दूसरे गुणरुप नहीं हो सकता। एक गुण दूसरे गुण का कार्य नहीं करता।

जीव का श्रद्धा गुण ज्ञान या चारित्र गुणरुप नहीं हो सकता। श्रद्धा सम्यक् होने पर भी चारित्र में क्रम पड़ता है। वह किसतरह होता है, देखते हैं। सम्यग्दर्शन होते ही श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र आदि सभी गुणों में सम्यक्पना आता है। अर्थात् विपरीतपना नष्ट होता है। आत्मा की अनुभूतिरुप - यह मैं ऐसी श्रद्धा, आत्मा का ज्ञान और आत्मा में स्थिरता होती है। ऐसा होने पर भी यह स्थिरता बहुत अल्प काल तक रहती है याने चारित्र की पूर्णता नहीं होती। अधिक अधिक आत्मस्थिरता होने पर एक समय ऐसा आता है कि जीव का उपयोग याने Attention - ध्यान चिरकाल के लिए आत्मा में ही लीन हो जाता है, जिसे यथाख्यात चारित्र कहते हैं और पूर्ण वीतरागता की प्राप्ति हो जाती है। ऐसा हो जाने के पश्चात् ज्ञान जो अब तक अल्प विकसित था वह भी पूर्ण विकसित होता है अथात् अनंत ज्ञान याने केवलज्ञान प्रकट होता है।

हमारी परिभाषा का तीसरा भाग है, "द्रव्य में रहनेवाले अनंत गुण बिखरकर अलग अलग नहीं होते" इसे अब तुम जल्दी से समझ सकोगी। विशिष्ट द्रव्य का और इसके अनंत गुणों का स्वद्रव्य और स्वक्षेत्र एक ही है। अर्थात् जो स्वद्रव्य उस द्रव्य का है वही स्वद्रव्य उसके अनंत गुणों का है, जो स्वक्षेत्र उस द्रव्य का है वही स्वक्षेत्र उसके अनंत गुणों का है। अनंत गुणों में से प्रत्येक गुण का द्रव्य भी वही है और क्षेत्र भी वही है। इसलिए ये सब अनंत गुण अपना स्वद्रव्य और स्वक्षेत्र छोड़कर बाहर नहीं जा सकते। दूसरे द्रव्य में याने परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल, परभाव में प्रवेश नहीं कर सकते। जैसे, गुरु का ज्ञान गुण शिष्य के ज्ञान (परद्रव्य) में प्रवेश नहीं कर सकता।

एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ भी नहीं कर सकता - कारण अगुरुलघुत्व गुण। विश्व में जितने द्रव्य हैं उतने कायम रहते हैं, कम या ज्यादा नहीं होते - कारण अगुरुलघुत्व गुण। निमित्त कार्य में फेरबदल, हेरफेर नहीं कर सकता - कारण अगुरुलघुत्व गुण। सम्यग्दर्शन हुआ, अब मुनि क्यों नहीं होता? चारित्र क्यों नहीं है ? कारण अगुरुलघुत्व गुण।

विश्व के अनंत द्रव्यों में प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र है। प्रत्येक द्रव्य के अनंत गुणों में प्रत्येक गुण स्वतंत्र है और हर एक गुण की अनंत पर्यायों में प्रत्येक पर्याय स्वतंत्र है। हमें स्वतंत्र होने की चेष्टा करने की जरुरत ही नहीं है , हम स्वतंत्र ही है ऐसा

जानना है। हम मान्यता में परतंत्रता की भ्रांत कल्पना करके दुःखी होते रहते हैं इसलिए हमें मात्र मान्यता ठीक याने सही करनी है। वस्तुव्यवस्था जैसी है वैसी मान्यता रखने से हम सुखी हो सकते हैं परंतु अपनी विपरीत मान्यतानुसार वस्तु याने द्रव्य रहे ऐसी वृथा चेष्टा करने से हमें दुःख ही भोगना पड़ेगा।

अनेक लोग आरोप लगाते हैं कि ऐसी स्वतंत्रता की शिक्षा देने से लोग स्वच्छंदी बनेंगे। परंतु उनका यह भय निराधार है। परचतुष्टय में मेरा प्रवेश ही नहीं होता और पर में मैं कुछ कर ही नहीं सकता ऐसा जानने से दृष्टि स्वचतुष्टयपर केंद्रित होगी, श्रद्धा 'स्व' को पकड़ेगी, ज्ञान 'स्व' को जानेगा और चारित्र 'स्व' में लीनता करेगा ओर यही तो हमारा उद्देश्य है।

इस विश्व में अनंत जीवद्रव्य, अनंतानंत पुद्गल द्रव्य, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये सब द्रव्य अनादिकाल से एकक्षेत्रावगाह संबंध से रहते आये हैं। फिर भी प्रत्येक द्रव्य अपने अपने स्वरुप से कायम है। एक जीवद्रव्य दूसरे जीवद्रव्य रुप नहीं हुआ है अथवा जीवद्रव्य पुद्गलद्रव्यरुप नहीं हुआ। जीव के गुण पुद्गल में नहीं गये और पुद्गल के गुण जीव में आकर नहीं मिल गये। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सुख, वीर्य आदि मेरे याने जीवद्रव्य के गुण हैं और स्पर्श, रस, गंध, वर्ण आदि शरीर के याने पुद्गल के गुण हैं। गत पचास सालों से मेरा इस शरीर से संबंध है। एक ही जगह में दोनों का अस्तित्व है फिर भी इस शरीर में जानने की पात्रता याने शक्ति निर्माण नहीं हुअी और मुझमें स्पर्श, रस, गंध, वर्ण आदि प्रवेश नहीं कर सके। मनुष्य की जीवित अवस्था में भी ज्ञान करनेवाला तो जीवही है, शरीर तो जड़, अचेतन, कलेवर है। मनुष्य के मरने पर वह शरीर ज्ञानहीन है यह हम प्रत्यक्ष देखते हैं, अनुभवते हैं, परंतु जीवित अवस्था में शरीर में ज्ञान नहीं है यह बात बताने पर भी अनेकों के गले नहीं उतरती। शरीर में आत्मबुद्धि यही इसका कारण है।

अगुरुलघुत्व गुण के कारण द्रव्य का 'द्रव्यपना' कायम रहता है यह हमने देखा, एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरुप नहीं होता इसे भी हमने समझा। उसीतरह यह बात भी जाननी जरुरी है कि द्रव्य गुणरुप भी नहीं होता और पर्यायरुप भी नहीं होता। द्रव्य और गुण का स्वरुप देखते समय हमने सीखा था कि द्रव्य एक है, अभेद है, अखंड है, नित्य है तथा गुण अनंत हैं, भेदरुप हैं। द्रव्य का स्वरुप समझने के लिए गुणों के द्वारा भेद करके समझाया था परंतु द्रव्य खंडित नहीं होता, द्रव्य सदा अभेद अखंड एक सत्ता मात्र ही रहता है।

जैसे, भारत एक देश है और उसमें महाराष्ट्र, गुजरात, राजस्थान, मध्यप्रदेश, बंगाल, पंजाब आदि विभिन्न प्रांत हैं। भारत का स्वरुप - विस्तार समझाने के लिए भेद करके समझाया जाता है परंतु जब 'भारत' एक देश ऐसा विचार करते हैं तब विभिन्न प्रांतों के भेद नष्ट हो जाते हैं अर्थात् नजर में नहीं आते - दृष्टि में नहीं

आते - गौण हो जाते हैं। भेद होने पर भी 'भारत' कहते ही उन भेदों पर से अपनी दृष्टि हट जाती है और एक अखंड भारत दृष्टिगोचर होता है। आत्मानुभव के लिए भी ऐसी ही विधि है। द्रव्य का - आत्मा का स्वरुप समझाने के लिए गुणों का और पर्यायों का स्वरुप विस्तार से बताया जाता है। परंतु जब 'अभेद, अखंड, नित्य, एक ऐसा मैं ज्ञायक ध्रुव द्रव्य' दृष्टि में अर्थात् श्रद्धा में लिया जाता है तब गुणों और पर्यायों का भेद गौण हो जाता है, नष्ट हो जाता है, दृष्टि में नहीं आता। गुणों के और पर्यायों के इस भेदरुप कथन को शास्त्र में व्यवहार ऐसी संज्ञा है और अभेद आत्मा का ध्यान करते समय यह भेद गौण हो जाता है, नष्ट हो जाता है, दृष्टि में नहीं आता इसलिए व्यवहार को 'अभूतार्थ' याने 'नहीं है' ऐसा कहते हैं। 'समस्त व्यवहार अभूतार्थ है' इस उक्ति का ऐसा अर्थ अभिप्रेत है।

द्रव्य गुणरुप नहीं होता उसीतरह द्रव्य पर्यायरुप भी नहीं होता। अन्यथा पर्याय जो समयमात्र रहकर नष्ट होती है वैसा प्रसंग द्रव्य के बारे में भी आ जाता। द्रव्य तो अनादिअनंत, ध्रुव, अखंड, नित्य है और पर्याय प्रत्येक समय में नयी-नयी, उत्पाद व्यय होनेवाली, अनित्य है। 'द्रव्य का द्रव्यपना कायम टिकता है' इस कथन का अर्थ अब तुम्हारे समझ में आया ही होगा।

तुम पूछोगी कि, द्रव्य में कुछ बढ़ता नहीं और कम भी नहीं होता, गुण भी कम ज्यादा नहीं होते, तो फिर गुणों का विकास करो तथा दूसरों के गुण ग्रहण करो ऐसा क्यों कहने में आता हैं?' अरी, यह तो उपचार कथन है। द्रव्य में तथा गुणों में हीनाधिकता या वधघट होती ही नहीं परंतु पर्याय में कम ज्यादा शक्ति प्रगट होती है। जैसे, सूक्ष्म जीवों के ज्ञान की अत्यंत हीन पर्याय है और अरिहंत सिद्धों के अनंतज्ञान याने केवलज्ञान यह सर्वोत्कृष्ट पर्याय प्रगट है तथापि ज्ञानगुण की अपेक्षा से देखनेपर सभी जीवों का ज्ञानगुण समान शक्तिवाला है। गुणों का विकास करो ऐसा जब बताया जाता है तब गुणों में जो शक्ति विद्यमान है उसे पर्याय में प्रगट करो - व्यक्त करो ऐसा अर्थ समझना चाहिए। गुणों का ग्रहण करो ऐसा जब बताया जाता है तब सामनेवाले जीव ने जो पर्याय प्रगट की है वैसी शक्ति तुम्हारे में भी है और वह तुम्हें प्रकट करनी चाहिए ऐसा कहने का अभिप्राय है।

गुरु के ज्ञानगुण को तो शिष्य ग्रहण नहीं कर सकता। परंतु शिष्य के ज्ञानगुण की विकसित पर्याय प्रगट होने पर शिष्य ने गुरु से ज्ञान ग्रहण किया ऐसा उपचार से कहने में आता है।

अगुरुलघुत्व गुण जानने से जो लाभ प्राप्त हुआ वह मुख्यरुप से इसप्रकार है -

१. वस्तुस्वरुप का एवं वस्तुस्वातंत्र्य का ज्ञान होता है।
२. एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ भी नहीं कर सकता इस जैनसिद्धांत की सिद्धि इस गुण के द्वारा भी होती है।

३. एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरुप नहीं होता इसकारण अनंत द्रव्यों की सत्ता एवं संख्या कायम रहती है।

४. विश्व में छह द्रव्य एक क्षेत्र में रहने पर भी प्रत्येक द्रव्य के अपने गुणधर्म कायम रहते हैं।

५. जीव और शरीर के इकट्ठे रहने पर भी जीव स्वतंत्र है और पुद्गल स्वतंत्र है। उनमें से द्रव्य, गुण अथवा पर्याय तक एकदूसरे में प्रवेश नहीं कर सकती एवं एक दूसरे का कार्य वे नहीं कर सकते। मैं शरीर हूँ या शरीर का कर्ता-धर्ता हूँ इस खोटी बुद्धि का नाश होता है।

६. एक गुण दूसरे गुणरुप नहीं होता इस बात को समझने से श्रद्धा गुण पहले पूर्ण शुद्ध होता है और चारित्र गुण की शुद्धता में क्रमिक विकास होता है यह बात ख्याल में आती है।

७. 'अनंत गुण बिखरकर अलग-अलग नहीं होते' इसका तात्पर्य यह है कि जहाँ द्रव्य के एक गुण की सिद्धि कर सकते हैं वहीं पर उस द्रव्य के अन्य अनंत गुण हैं यह बात सिद्ध होती है। जीव का ज्ञान गुण हमारे ध्यान में आता है वहीं पर जीव के अनंत गुण हैं यह सिद्ध होता है।

अगुरुलघुत्व गुण का वर्णन करनेवाला यह पद्य देखो-

यह गुण अगुरुलघु भी सदा रखता महत्ता है महा,
गुण द्रव्य को पररुप यह होने न देता है अहा !.
निज गुण पर्याय सर्व ही रहते सतत निज भाव में,
कर्ता न हर्ता अन्य कोई यों लखो स्व-स्वभाव में ॥

अब प्रदेशत्व गुण की चर्चा अगले पत्र में करेंगे।

तुम्हारी माँ

✧ ✧

सम्यग्दृष्टि जीव ऐसी भावना रखता है कि है प्रभो ! मैं जीव और अजीव पदार्थों का स्वरुप यथार्थ जानूं, बंध और आस्रव को रोकूं, निरंतर संवर और निर्जरा करता रहूँ, मुक्तिरुपी लक्ष्मी की आकांक्षा करुँ तथा शरीरादि से निश्चय से मेरा परमात्मस्वरुप शुद्ध और भिन्न है ऐसा अनुभव करता रहूँ। इसतरह शुद्ध मन से धर्मध्यान और समाधिभाव में मेरा जीवनकाल व्यतित हो।

श्री. अमितगति आचार्य 'तत्त्वभावना'

✧ ✧

पत्रांक १५ ८ मार्च १९९५

प्रदेशत्व गुण

प्रिय रीना एवं मोना,

अनेक उत्तम शुभाशीर्वाद।

पत्र वाचन के कारण तुम्हारी इस विषय में रुचि बढ़ रही है यह अच्छी बात है। सच पूछो तो स्वयं वाचन करने की अपेक्षा प्रवचन - चर्चा सुनने से अधिक लाभ होता है। ऐसा अवसर भी तुम्हें शीघ्र ही प्राप्त होनेवाला है। हो सके तो इस अवसर का अवश्य लाभ उठाना। पूना में २० से ३० अप्रैल तक हम दोनों (मैं और तुम्हारे पिताजी) प्रवचन करनेवाले हैं। उस समय रोज सात घण्टे स्वाध्याय होगा। उसीतरह इस वर्ष देवलाली (नासिक) में १४ मई से ३१ मई तक शिक्षण प्रशिक्षण शिबिर संपन्न होगा। उसमें ८ - १० घण्टे विभिन्न विषयों पर प्रवचन, क्लास, प्रॅक्टिकल्स आदि लाभ होता है यह बात तुम्हें अनुभव से ज्ञात ही है।

सामान्य गुणों की चर्चा से विश्व में जो छह द्रव्य हैं उनके स्वरुप का हमें थोड़ा बहुत ज्ञान हो गया। आज का हमारा विषय है 'प्रदेशत्व गुण'। इस गुण की परिभाषा इसप्रकार है, 'जिस शक्ति के कारण से द्रव्य का कोई ना कोई आकार अवश्य रहता है उस शक्ति को प्रदेशत्व गुण कहते हैं।'

विश्व में छह द्रव्य हैं, उनमें केवल पुद्गल द्रव्य ही रुपी है अर्थात् मूर्तिक है और अन्य पाँच द्रव्य अरुपी हैं। मूर्त द्रव्य का आकार तो हमें दिखायी देता है परंतु अरुपी द्रव्य के आकार के बारे में संदेह होता है। द्रव्य का आकार याने उस द्रव्य का विस्तार याने क्षेत्र अर्थात् लंबाई, चौड़ाई और मोटाई आदि। रुपी द्रव्य का आकार रुपी होता है और अरुपी द्रव्य का आकार अरुपी होता है। प्रत्येक द्रव्य का आकार उसके अपने प्रदेशत्व गुण के कारण होता है, अन्य द्रव्य के कारण से नहीं होता। कोई भी द्रव्य या कोई भी जीव परद्रव्य के आकार का कर्ता हो नहीं सकता।

असंख्य प्रकार के पेड़-पौधे, विविध आकार के फूल पत्ते, विभिन्न आकारों के पशु-पक्षी हम देखते हैं। इनका आकार किसने बनाया होगा? कमल के फूल का आकार किसने बनाया? उसमें ही उस आकाररुप होने की शक्ति है। जिसे प्रदेशत्व गुण के बारे में पता नहीं है वह मानता है कि कोई ईश्वर इस सृष्टि का निर्माता है और वह ईश्वर इन सब चीजों को आकार देता है। ईश्वर का एवं द्रव्य का स्वरुप ज्ञात न होने के कारण ऐसी भ्रांत धारणायें होती हैं।

अक्षर का सुंदर या टेड़ा-मेढ़ा होना स्याही के प्रदेशत्व गुण से होता है और हम मानते हैं मैंने सुंदर अक्षर लिखा। रंगोली से सुंदर फूल बनाया वह मेरा

कौशल्य है ऐसा हम मानते हैं, परंतु रंगोली के प्रदेशत्व गुण का यह कार्य है। कोई शेठ कहता है मैंने मेरे धन से इतना बड़ा सुंदर महल बनवाया है, परंतु ईंट - पत्थर की वह रचना पुद्गल के प्रदेशत्व गुण का कार्य है। कोई काम बिगड़ने पर कारीगर का दोष बताता है और कारीगर कहता है सिमेंट अच्छा नहीं था। लोटे में पानी रखने पर पानी का जो आकार होता है वह पानी के प्रदेशत्व गुण के कारण से है लोटे के कारण से नहीं है। लोटे के कारण अगर आकार हो जाता तो लोटे में पत्थर डालकर देखो तो सही कि वे उस आकार के बनते हैं या नहीं? मैं रोटी गोल बनाती हूँ ऐसा हमें अभिमान हैं, तो फिर आटे का आकार किस ने बनाया? गेहूँ का आकार किसने बनाया ? नैसर्गिक रीति से याने उन चीजों के प्रदेशत्व गुण से उनके आकार बनते हैं। उसीतरह रोटी भी उसके प्रदेशत्व गुण से ही गोल बनती है।

कुम्हार ने घड़ा बनाया ऐसा हम कहते हैं, परंतु घड़े का आकार तो मिट्टी के प्रदेशत्व गुण का कार्य है। सुनार कहता है, मैंने सोने का हार बनाया है। परंतु हार का जो डिझाईन - आकार है वह सोने के प्रदेशत्व गुण का कार्य है। कोई स्त्री अभिमान करती है कि मेरे बच्चे मेरे जैसे ही सुंदर दिखते हैं और मेरे कारण ही वे इसतरह सुंदर बन गये। परंतु वास्तव में उन शरीरों का आकार पुद्गल के प्रदेशत्व गुण का कार्य है।

हाथी यह जीव है। उसके शरीर का आकार पुद्गल के प्रदेशत्व गुण से होता है व उसमें जो जीव है उसका वैसा ही आकार जीव के प्रदेशत्व गुण से होता है। वहाँ उस शरीर को जीव के उस आकार में निमित्त कहा जाता है। सिद्ध भगवंतों के शरीर नहीं होता इसलिए शरीर के निमित्त से होनेवाला आकार उन्हें नहीं है इसलिए सिद्धों को 'निराकार' कहने में आता है फिर भी सिद्धों को आकार अवश्य है क्योंकि वे भी जीवद्रव्य हैं और उनमें प्रदेशत्व गुण है।

हम पहले ही देख चुके हैं कि प्रत्येक गुण अपने ही कारण अपना अपना प्रयोजनभूत कार्य करता है (वस्तुत्व गुण) और वह कार्य निरंतर चलता रहता है (द्रव्यत्व गुण)। इसलिए प्रदेशत्व गुण का 'द्रव्य का आकार' यह कार्य उसके अपने ही कारण निरंतर चलता है। आकार यह प्रदेशत्व गुण की पर्याय प्रत्येक समय में उत्पाद-व्यय रुप से पलटती रहती है अर्थात् हर समय नया नया आकार होता रहता है। पर्याय याने यह आकार वैसा का वैसा भी रह सकता है या अलग भी हो सकता है।

माइके आनेपर तुम कहती हो, 'कितने सालों से यह फर्निचर वैसा का वैसा है, दिन ब दिन पुराना होता जा रहा है, तुम बोअर नहीं होती हो ? पिताजी से कहकर बदलवा डालो सब!' हमारी इच्छा नित्य नयी उत्पन्न होकर आकुलता का कारण बनती है। यहाँ फर्निचर बदलने की नहीं अपितु अपनी दृष्टि बदलने की

जरुरत है। फर्निचर का आकार हर समय नित्य नया ही बन रहा है उसके प्रदेशत्व गुण के कारण, अन्य गुणों में भी अपना कार्य हर समय नया हो रहा है। सही दृष्टि से देखा जाये तो हर समय नया आकार बन ही रहा है। हम परद्रव्य का और उसके गुणों का कार्य याने परिणमन हमारी इच्छा के अनुसार पलटाना चाहते हैं मगर वस्तुव्यवस्था वैसी है नहीं इसलिए हम दुःखी होते हैं। हमारा कार्य तो हमारे द्रव्य में हमारे गुणों में हो रहा है। जानना हमारा कार्य है, मानना हमारा कार्य है इसलिए वस्तु का स्वरुप जैसा है वैसा जानो और मानो तो सुख गुण की दुःखरुप पर्याय पलटकर सुखरुप पर्याय उत्पन्न होगी अर्थात् हम सुखी होंगे।

जीवद्रव्य का आकार छोटा-बड़ा होनेपर याने उसका संकोच विस्तार होनेपर भी जीव के जो असंख्यात प्रदेश हैं वे कायम रहते हैं। जैसे, ढ़ेर सारी कपास छोटे से तकिया में डाल सकते हैं या बड़ा स्पंज दबाकर हाथ की मुट्ठी में पकड़ सकते हैं। उस समय वह कपास या स्पंज तो उतना ही है परंतु कम क्षेत्र व्यापता है। तात्पर्य यह है कि जीव का आकार बदलने पर भी असंख्यात प्रदेशी क्षेत्र कायम रहता है। जीव का आकार छोटा या बड़ा होनेपर याने संकोच या विस्तार होनेपर उसके सब असंख्यात प्रदेश तो कायम रहते ही हैं, उसके अनंत गुण भी कायम रहते हैं। सूक्ष्म जीवाणू से लेकर महाकाय प्राणियों तक अनेक आकार में जीव पाये जाते हैं परंतु वे सब असंख्यात प्रदेशी हैं और अनंत गुणों से युक्त हैं। अनंत प्रदेशी आकाश में तथा एकप्रदेशी कालद्रव्य में तथा एकप्रदेशी पुद्गल परमाणु में भी प्रत्येक में अनंत गुण हैं।

आदिनाथ भगवान ५०० धनुष्य की उँचाई और महावीर भगवान ७ हाथ की उँचाई सहित वर्तमान में सिद्ध अवस्था में विराजमान हैं। उनके आकार में अंतर होनेपर भी अव्य अनंत गुणों की पर्यायों में कुछ अंतर नहीं है। दोनों ही अनंत चतुष्टय (अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान, अनंत सुख, अनंत वीर्य) से युक्त हैं। उनके सभी अनंत गुणों का सामर्थ्य पर्याय में पूर्ण प्रगट हो गया है। इस कारण भगवान महावीर से अधिक सुख और ज्ञान भगवान आदिनाथ में होगा ऐसा नहीं है। हमारे दैनंदिन जीवन में भी हम इस बात से परिचित हैं कि बुद्धि किसी के लम्बाई या मोटाई पर निर्भर नहीं रहती। इसलिए छोटा कदवाला व्यक्ति अपने आप को हीन मानता हो या लम्बा व्यक्ति अपने आपको श्रेष्ठ मानता हो तो यह बात योग्य नहीं है। यहाँ और एक बात बताना चाहती हूँ। सिद्धों के शरीर नहीं होता इसलिए उनका आकार पोला (Hollow) होगा, शून्य समान अभावात्मक होगा ऐसी भी भ्रांति अनेक लोगों में पायी जाती है। पहले के जमाने की सिद्धों की मूर्ति ऐसी भी देखने में आती है कि धातु के अंदर मनुष्याकार बनाया हुआ है। परंतु सिद्धों का ठोस याने घन आकार है। आत्मतत्त्व को विज्ञानघन कहा है। जीव में अनंत गुण ठसोठस भरे हुअे हैं।

प्रदेशत्व गुण की हर समय नयी पर्याय होती है। प्रदेशत्व गुण के इस विशेष कार्य (परिणमन) को 'व्यंजनपर्याय' कहते हैं। प्रत्येक द्रव्य में अनंत गुण रहते हैं। इन सब गुणों का परिणमन याने पर्यायें होती रहती हैं। उनमें से केवल प्रदेशत्व गुण का कार्य बताने के लिए उसे व्यंजनपर्याय कहा है और अन्य अनंत गुणों के पर्यायों को 'अर्थपर्याय' कहते हैं। यह बहुत मजेदार विषय है। कैसा, वह देखते हैं। व्यंजनपर्याय और अर्थपर्याय इन दोनों के दो दो भेद हैं - स्वभाव और विभाव।

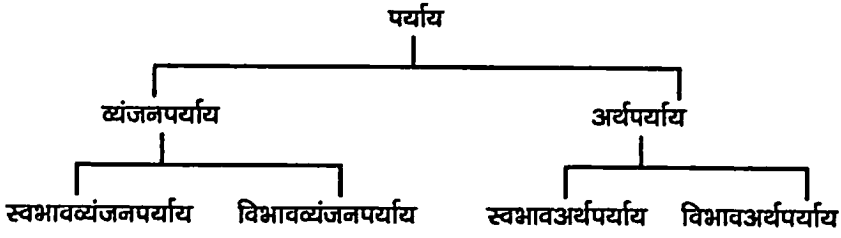

स्वभावव्यंजनपर्याय : पर निमित्त के संबंध से रहित द्रव्य का जो आकार होता है उसे स्वभावव्यंजनपर्याय कहते हैं। जैसे, जीव का सिद्ध पर्याय में आकार, पुद्गल परमाणु का आकार।

विभावव्यंजनपर्याय : पर निमित्त के संबंध से द्रव्य का जो आकार होता है उसे विभावव्यंजनपर्याय कहते हैं। जैसे जीव की नरनारकादि पर्याय, पुद्गल के स्कंध का आकार।

स्वभावअर्थपर्याय : पर निमित्त के संबंध से रहित जो अर्थपर्याय (प्रदेशत्व गुण को छोड़कर अन्य अनंत गुणों की पर्यायें) होती हैं उसे स्वभावअर्थपर्याय कहते हैं। जैसे, जीव की केवलज्ञान पर्याय, पुद्गल परमाणु की पर्यायें (आकार को छोड़कर)

विभावअर्थपर्याय : पर निमित्त के संबंध से जो अर्थपर्याय होती है उसे विभावअर्थपर्याय कहते हैं। जैसे, जीव के राग द्वेष आदि, पुद्गल स्कंध की पर्यायें (आकार छोड़कर अन्य)।

छहों द्रव्यों में से केवल जीव और पुद्गल ये दो द्रव्य ही स्वभाव या विभाव पर्यायों से युक्त होते हैं। धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन चारों द्रव्यों में स्वभावअर्थपर्याय और स्वभावव्यंजनपर्याय ऐसा दो प्रकार से ही परिणमन होता है - उनमें विभाव परिणमन नहीं होता।

जीव को संसार अवस्था में याने जब तक कर्म और शरीर का संबंध हैं तब तक विभावव्यंजनपर्याय ही होती है और सिद्ध अवस्था में स्वभावव्यंजनपर्याय शुरु होती है और अनंत काल तक स्वभावपर्याय चलती रहती है। तात्पर्य यह है कि अन्यमतानुसार परमात्मा फिर से शरीर रुप से 'अवतार' नहीं लेता। पुनश्च कर्म और शरीर का संबंध कभी भी नहीं होता। अरिहंत भगवंतों के विभावव्यंजनपर्याय होती है, फिर भी अन्य गुणों का स्वभाव परिणमन होने से स्वभावअर्थपर्याय भी

होती हैं। अनंत सुख, अनंत ज्ञान आदि प्रगट हुअे हैं। प्रदेशत्व गुण के विभाव परिणमन के कारण अन्य गुणों के स्वभाव परिणमन में बाधा नहीं आती। शायद इसलिए इस एक गुण के परिणमन को अलग नाम दिया होगा।

जीव का श्रद्धा गुण सम्यग्दर्शन के साथ शुद्ध होता है और उस समय से स्वभावअर्थपर्याय शुरु होती है। परंतु सभी गुणों की पर्यायें अभी शुद्ध नहीं हुअी है इसलिए उस जीव को स्वभाव और विभाव अर्थपर्याय होती हैं।

पुद्गल के बारे में ऐसा नहीं होता। परमाणु का आकार स्वभावव्यंजनपर्याय है। जब परमाणु स्कंधरुप में बंधता है तब उसकी विभावव्यंजनपर्याय होती है। स्कंध से छूटने पर दुबारा परमाणु अवस्था में आने पर स्वभावव्यंजनपर्याय होती है। अर्थात् पुद्गल द्रव्य में स्वभावव्यंजनपर्याय फिर से विभावव्यंजनपर्याय में पलट सकती है। परंतु जीव की स्वभावव्यंजनपर्याय होनेपर दुबारा विभावव्यंजनपर्याय कभी भी नहीं होती।

जीव और पुद्गल के इन अर्थ और व्यंजन पर्यायों में और एक मजे की बात है। जीवद्रव्य में सिद्धों की स्वभावअर्थपर्यायें सब की एक जैसी होती हैं और स्वभावव्यंजनपर्यायें सब की विभिन्न होती हैं। परंतु इससे विपरीत, पुद्गल में स्वभावअर्थपर्यायें विभिन्न एवं स्वभावव्यंजनपर्याय एक सी होती है। अर्थात् परमाणु का आकार एक जैसा रहता है, परंतु स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, आदि गुणों की कोई भी विभिन्न पर्यायें हो सकती हैं।

प्रदेशत्व गुण जानने के कारण मुख्यतः निम्न लाभ ख्याल में आता है -

१. प्रत्येक द्रव्य का कोई ना कोई आकार होता ही है, इसलिए जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन अरुपी द्रव्यों का भी अपना अपना आकार है।
२. प्रत्येक द्रव्य का आकार उसके अपने प्रदेशत्व गुण से होता है, कोई भी ईश्वर या परद्रव्य उस आकार का कर्ता हो ही नहीं सकता।
३. संसार अवस्था में जीव का आकार प्राप्त शरीर के आकार के समान होनेपर भी वह आकार शरीर के कारण नहीं परंतु जीव के प्रदेशत्व गुण के कारण होता है।
४. पुद्गल द्रव्य का आकार मूर्तिक (रुपी) है, अन्य पांच द्रव्यों का आकार (अरुपी) अमूर्तिक है।
५. शरीर का आकार शरीर के परमाणुओं का आकार है, जीव उस आकार का कर्ता नहीं है। शरीर को सुडौल (Shape में) रखने का कार्य जीव नहीं कर सकता।
६. द्रव्य के आकार पर उसके गुणों की संख्या निर्भर नहीं रहती। अनंत प्रदेशी आकाशद्रव्य में जितने अनंत गुण हैं उतने ही अनंत गुण एकप्रदेशी पुद्गल परमाणु में या कालाणु में या अन्य द्रव्यों में होते हैं।

७. जीवद्रव्य के आकार में संकोच विस्तार होने पर भी उसके असंख्यात प्रदेश कायम रहते हैं, उनमें वध घट नहीं होती।

८. जीवद्रव्य के आकार पर उसके अन्य गुणों का कार्य निर्भर नहीं होता। इसलिए ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सुख आदि गुणों की पर्यायें जीव द्रव्य के आकार पर निर्भर नहीं होती।

९. प्राप्त शरीर के आकार के कारण अपने को हीन या श्रेष्ठ मानना गलत है।

प्रदेशत्व गुण का वर्णन करनेवाला यह पद्य देखो -

प्रदेशत्व गुण की शक्ति से आकार द्रव्यों का रहे,
निजक्षेत्र में व्यापक रहे आकार भी स्वाधीन है ।
आकार है सबके अलग हो लीन अपने ज्ञान में,
जानो इन्हें सामान्य गुण रखिये सदा श्रद्धान में ॥

ज्ञान में लीन होने का उपदेश दिया है अर्थात् त्रिकाली, ध्रुव, ज्ञानमय ऐसे आत्मद्रव्य का ध्यान करने का उपदेश दिया है। आकार एक पर्याय है इसलिए वह एक समयवर्ती है, विनाशिक है और नयी नयी उत्पन्न होनेवाली है। ऐसी अस्थिर चीज का ध्यान नहीं हो सकता। इसकारण उन पर्यायों से लक्ष (उपयोग) हटाकर सदा कायम रहनेवाले ज्ञान स्वभावपर उपयोग केंद्रित करके एकाग्रता करने से स्वभावअर्थपर्याय शुरू होगी अर्थात् सम्यग्दर्शन - आत्मानुभूति होगी।

सामान्य गुणों की चर्चा आज समाप्त होती है। अगले पत्र से नया विषय प्रारंभ होगा। फिर भी पहले सब पत्र पुनः पढ़ना जिस कारण द्रव्य गुण पर्याय और सामान्य गुणों का स्वरुप ठीक याद होगा।

तुम्हारी माँ

नरभव तो सदा रहता नहीं। साक्षात् मोक्षसाधन ज्ञानकला इस भव के अतिरिक्त अन्यत्र दिखायी नहीं देती इसलिए बारम्बार कहते हैं - निजबोधकला के बल से निजस्वरुप में स्थिर रहो - निरन्तर वही प्रयत्न करो। छोटे बालक को भी ऐसा बारम्बार कहना नहीं पड़ता, आप तो अनंत ज्ञान के धनी होकर भी ऐसी भूल कर रहे हैं यह देखकर बड़ा आश्चर्य लगता है।

- श्री दीपचंदजी 'अनुभवप्रकाश'

पत्रांक १६ २ अप्रैल १९९५

पुद्गल के विशेष गुण और पर्यायें

प्रिय रीना एवं मोना,

अनेक उत्तम शुभाशीर्वाद।

गत अनेक पत्रों द्वारा हमने सब द्रव्यों में पाये जानेवाले सामान्य गुणों में से मुख्य छह सामान्य गुणों का स्वरुप देखा। इस चर्चा के कारण द्रव्यों का सामान्य स्वरुप तो हमारे ख्याल में आ गया, परंतु प्रत्येक द्रव्य की भिन्नता, विशेषता जिस कारण से जानी जा सकती है उन विशेष गुणों के बारे में जानना भी अत्यंत आवश्यक है। विशेष गुणों के द्वारा ही विशिष्ट द्रव्य कौनसा है यह हम जान सकते हैं। जैसे, जिसमें स्पर्श, रस, गंध, वर्ण आदि विशेष गुण पाये जाते हैं वह पुद्गल द्रव्य है। इसलिए शरीर, हमें दिखायी देनेवाली सभी चीजें, पांचों इंद्रियों से ज्ञात होनेवाली चीजें - ये सब पुद्गल हैं इस बात का पता चलता है। जिसमें ज्ञान करने की योग्यता है, जिसे सुख-दुःख का अनुभव होता है वह जीवद्रव्य है यह बात ख्याल में आती है।

अधिक सूक्ष्म विचार करने पर एक बात ख्याल में आती है कि सच देखा जाये तो द्रव्य या गुण ज्ञान में नहीं आते मगर उनकी पर्यायें ज्ञान में आती हैं - जानने में आती हैं। जैसे, हम वर्ण गुण को नहीं अपितु वर्ण गुण की सफेद, लाल, नीली आदि अवस्थाओं को अर्थात् पर्यायों को जानते हैं। अतः केवल गुणों का ज्ञान पर्याप्त नहीं है, गुणों के साथ साथ उनकी पर्यायों का ज्ञान भी आवश्यक है। क्योंकि पर्याय ही 'व्यक्त' हैं, गुण तो 'अव्यक्त' हैं - शक्तिरुप से विद्यमान हैं। जीवद्रव्य और उसके ज्ञान, सुख आदि गुण भी 'अव्यक्त' हैं परंतु जानना यह पर्याय (क्रिया), तथा सुख-दुःख का अनुभव-संवेदन- करना यह पर्याय व्यक्त है। इसलिए आज हम विशेष गुणों की पर्यायों के बारे में चर्चा करेंगे। पुद्गल द्रव्य की पर्यायें हमें सदा इंद्रियोंद्वारा जानने में आती हैं, हम उनसे परिचित हैं इसलिए सर्वप्रथम पुद्गल के विशेष गुणों की पर्यायों के बारे में जानकारी प्राप्त करेंगे। प्रत्येक द्रव्य के विशेष गुणों की चर्चा तो हमने 'द्रव्य का स्वरुप' इस छठे क्रमांक के पत्र में देखी ही है इसलिए अब मुख्यतः पुद्गल और जीव के विशेष गुणों की पर्यायों के संबंध में हमें समझना है।

पुद्गल द्रव्य में स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, क्रियावती शक्ति आदि विशेष गुण हैं यह बात तो हम जानते ही हैं। उसमें स्पर्श गुण की ८ पर्यायें होती हैं। वे इसप्रकार हैं - हलका- भारी, कड़ा-नरम, रुखा-चिकना, ठंड़ा-गरम ऐसे चार जोड़े हैं। हलका-भारी में से एक समय में कोई एक ही पर्याय होती है, उसीतरह प्रत्येक जोड़े में से एक पर्याय होती है इसलिए पुद्गल के स्पर्श गुण की एक समय में एक साथ चार पर्यायें होती हैं। नियमसार, पंचास्तिकाय आदि ग्रंथों में तो कथन आता है कि ये

चार पर्यायें स्कंध की होती हैं और सिर्फ परमाणु में स्पर्श गुण की एकसाथ दो ही पर्यायें होती हैं - स्निग्ध या रुक्ष में से एक और ठंडा या गरम में से एक।

स्पर्श गुण के संबंध में और एक मजे की बात याद आ गयी। पुद्गल द्रव्य में अनंत गुण होने पर भी उनमें से केवल स्पर्श गुण की स्निग्ध या रुक्ष पर्याय ही दो या अधिक परमाणुओं के बंध को कारणभूत होती है। जीव द्रव्य में भी मोहनीय कर्म के उदय में जीव के जो मोह, राग, द्वेष परिणाम होते हैं वे ही नवीन बंध को कारणभूत होते हैं।

रसगुण की पांच पर्यायें हैं - खट्टा, मीठा, कडवा, कषायला और चरपरा। इन पांच पर्यायों में से एक समय में कोई भी एक ही पर्याय होती है।

गंध गुण की दो पर्यायें हैं - सुगंध और दुर्गंध। इन दो पर्यायों में से कोई एक ही पर्याय एक समय में होती है।

वर्ण गुण की पांच पर्यायें हैं - सफेद, लाल, काला, नीला और पीला। उनमें से एक समय में एक ही पर्याय होती है।

शब्द यह स्कंध है। भाषावर्गणा शब्दरुप परिणमित होती है इसलिए शब्द यह पर्याय है, गुण नहीं।

क्रियावती शक्ति इस गुण की गतिरुप पर्याय अथवा स्थितिरुप पर्याय होती है।

उक्त संपूर्ण विवेचन से यह बात ध्यान में आती है कि स्पर्श, रस, गंध, वर्ण की पर्यायें तथा शब्द यह पर्याय ये सब पुद्गल की पर्यायें हैं। पुद्गल स्वयं अपनी पर्यायों को नहीं जानता, अपने विशिष्ट पर्याय के कारण पुद्गल को कुछ सुख-दुःख भी नहीं होता इसलिए विशिष्ट पर्याय अच्छी है या बुरी है ऐसा सवाल ही पैदा नहीं होता।

इन सब पर्यायों को जाननेवाला जीव है। परंतु अज्ञानता के कारण इन पर्यायरुप ही मैं स्वयं हूँ ऐसा वह मानता है। शरीर की पर्यायों को पुद्गल की पर्यायें न मानकर अज्ञानी जीव उन्हें अपना स्वरुप मानता है। मैं गोरा, मैं हलका, मैं भारी, मेरे हात नरम, मेरे बाल रुक्ष आदि हमने माना, तथा उनमें से विशिष्ट पर्याय को अच्छी या बुरी मानकर, इष्ट या अनिष्ट मानकर बिना प्रयोजन ही सुख दुःख मानते आये हैं।

स्पर्श, रस, गंध, वर्ण की पर्यायें तथा शब्द यह पर्याय पुद्गल द्रव्य की हैं, इन पर्यायों का कर्ता पुद्गल है, जीव मात्र उन्हें जाननेवाला है। परंतु इस जीव ने इन सब पर्यायों का कर्ता स्वयं को माना। जैसे, मैं स्वादिष्ट भोजन बनाती हूँ, रोटी नरम बनाती हूँ, रंगीन चित्र बनाती हूँ, सुस्वर आवाज में गाती हूँ ऐसा ही इस जीव ने माना है। जीव इंद्रियों द्वारा इन पर्यायों को मात्र जानता है परंतु यह जानने के साथ उसमें सुख-दुःख मानकर यह जीव इन पर्यायों को मैं भोग रहा हूँ ऐसा मानकर उनका भोक्ता बनना चाहता है। गुलाबजाम खाते समय मीठा इस रस

गुण की पर्याय का हम ज्ञान करते हैं परंतु उसमें सुख की कल्पना करके यह जीव उसमें रममाण होता है। उसमें सचमुच सुख होता तो ७ - ८ गुलाबजाम खानेपर हम रुकते ही नहीं, खाते ही रहते।

शरीर की दुर्गंध पर्याय नहीं सुहाती तब उसपर सेंट का फव्वारा मारकर कोई सुख मानता है, स्वयं सुगंधित हुआ ऐसा मानता है। सच पूछो तो जीवद्रव्य में गंध गुण नहीं है इसलिए शरीर की दुर्गंध पर्याय भी जीव की नहीं है तथा सेंट की सुगंध पर्याय भी जीव की नहीं है।

जीव पांच इंद्रियों के माध्यम से इन पर्यायों का ज्ञान करता है। स्पर्शनेंद्रिय द्वारा पुद्गल के स्पर्श का, रसनेंद्रिय द्वारा रस का, घ्राणेंद्रिय द्वारा गंध का, चक्षुइंद्रिय द्वारा वर्ण का और कर्णेंद्रिय द्वारा शब्द का ज्ञान होता है। ज्ञान करनेवाला जीव स्वयं है, इंद्रिय मात्र निमित्त हैं, माध्यम हैं। जैसे, खिड़की में से बाहर का दृश्य देखते समय देखने का काम तो हम करते हैं, खिड़की नहीं। उसीतरह इंद्रियाँ स्वयं पुद्गल हैं, अचेतन हैं, उनमें ज्ञानगुण नहीं है। ब्रेन (Brain) अथवा मज्जातंतू भी पुद्गल हैं उनमें ज्ञानगुण नहीं है, उनके द्वारा ज्ञान करनेवाला जीव ही है और वही मैं हूँ।

जीव स्पर्श का ज्ञान करता है परंतु जीव में स्पर्श गुण नहीं है इसलिए जीव को अस्पर्शस्वभावी कहा है - अस्पर्शी कहा है। तद्वत् ही रस, गंध, वर्ण, शब्द आदि का ज्ञान करनेवाला जीव है परंतु जीव में ये गुण या उनकी पर्यायें नहीं है इसलिए जीव को अरस, अगंध, अवर्ण, अशब्द कहा जाता है।

तुम कहोगी कि 'जीव को ज्ञान करने के लिए इंद्रियों की जरुरत तो पड़ती ही है ना?' बिल्कुल नहीं। अरिहंत, सिद्ध इंद्रियों द्वारा नहीं जानते परंतु आत्मा से प्रत्यक्ष जानते हैं। विश्व के सभी द्रव्यों को, गुणों को और उनकी तीनों काल की पर्यायों को वे युगपत् (एकसाथ) प्रत्यक्ष जानते हैं। अवधि, मनःपर्यय ज्ञान में भी इंद्रियों की जरुरत नहीं पड़ती। इसीतरह आत्मा को अपने आप को जानते समय - आत्मानुभव करते समय इंद्रियोंद्वारा जानना बंद करके ही अंतर्मुख होकर प्रत्यक्ष ज्ञानद्वारा आत्मा का ज्ञान होता है।

शास्त्रों में पुद्गल का इतना सब वर्णन आता है वह केवल पुद्गल को ठीक तरह से जानने के लिए नहीं है, मगर ये सब गुण-पर्यायें पुद्गल की हैं जीव की नहीं ऐसा समझने के लिए है। शरीर से भेदज्ञान करने हेतु शरीर के लक्षण याने पर्यायों का विस्तृत कथन शास्त्र में आता है।

ये सब पर्यायें 'मैं' नहीं ऐसा जानने - मानने से एकत्वबुद्धि का नाश होता है। ये पर्यायें मेरी नहीं है ऐसा समझते ही ममत्वबुद्धि का अंत होता है। इन पर्यायों का कर्ता पुद्गल है, मैं नहीं हूँ ऐसा निर्णय होते ही कर्तृत्वबुद्धि नष्ट होती है। इन पर्यायों का मैं केवल जाननेवाला हूँ, भोगनेवाला नहीं, ये पर्यायें मेरे सुख-दुःख के कारण नहीं, मैंने ही इनमें सुख-दुःख की कल्पना की थी ऐसा ज्ञान होते ही भोक्तृत्वबुद्धि का अभाव होता है।

देखो तो सही, पुद्गल की पर्यायों का ज्ञान होते ही कितनी सारी निश्चिंतता एवं निराकुलता आती है। ये मेरी पर्यायें नहीं है ऐसा समझते ही उसी क्षण हमारे मन में सवाल उठता है कि फिर मेरी पर्यायें कौनसी हैं ?

मान लो, तुम मुझे लेने के लिए रेल्वे स्थानकपर आ गयी हो। उस वक्त तुम्हारी आँखों के सामने सेंकड़ो महिलायें दिखायी देती हैं। परंतु यह मेरी माँ नहीं है इतना समझते ही तत्काल तुम्हारी दृष्टि उस स्त्री पर से हटती है और अन्यत्र तुम्हारी माँ को ढूँढने लगती है। जिससमय मैं याने तुम्हारी माँ तुम्हारी नजर में आयेगी तब तुम्हारी दृष्टि अपनी माँ पर ही केंद्रित होगी। उसके पश्चात् यहाँ वहाँ ढूँढने में या देखने में तुम्हें कोई रस नहीं रहेगा। माँ तो अब तक दूर है फिर भी अब माँ दिखायी दी है इसका पक्का विश्वास है - प्रतीति है। रास्ते में पहचानवाली अन्य महिलायें दिखायी देती हैं, मिलती हैं परंतु अब चित्त माँ की तरफ लगा हुआ है। माँ के गले लगने के लिए अब तीव्र उत्कंठा हो गयी है।

उसीतरह ये सब पर्यायें पुद्गल की हैं यह बात समझ में आनेपर अब दृष्टि इनपर जमती नहीं, टिकती नहीं। मेरी पर्यायें कौनसी है यह जानने की उत्सुकता रहती है। जब जीव की पर्यायों का याने अपनी पर्यायों का ज्ञान होगा तब इंद्रियोंद्वारा पुद्गल की पर्यायें जानने में रस नहीं रहेगा। अपनी पर्यायें जानकर ये पर्यायें जिसमें से निकलती है वही त्रिकाली 'मैं' ऐसी लक्षणों द्वारा प्रतीति होते ही चित्त वहींपर स्थिर होगा - रममाण होगा। बारम्बार अंतर्मुख होकर अपने आपको देखते रहने में अनुभवने में रस बढ़ता जायेगा।

उसके लिए सर्वप्रथम जीवद्रव्य के विशेष गुणों की पर्यायों का ज्ञान करना आवश्यक है। अपना स्वरुप पहिचाने बिना इस जीव का अज्ञान एवं चार गतियों में भ्रमण दूर नहीं होगा। सुख यह पर्याय जीव के सुख गुण की है इसलिए सच्चा सुख अपने आपको जानने से ही प्रगट होगा।

इसकी विस्तृत चर्चा हम आगामी पत्रद्वारा करेंगे। तब तक पुद्गल की जो जो पर्यायें हमारे ज्ञान में आयेगी वे मैं नहीं, मेरी नहीं, मैं उनका कर्ता नहीं हूँ, मैं उनका भोक्ता नहीं हूँ ऐसा तुम बारम्बार अभ्यास करती रहना।

तुम्हारी माँ

* *

* जिनको सच्चा जैन बनना हो उनको शास्त्र के आश्रय से तत्त्वनिर्णय *
* करना योग्य हैं; परंतु जो तत्त्वनिर्णय नहीं करते और पूजा, स्तोत्र, दर्शन, *
* त्याग, तप, वैराग्य, संयम, संतोष आदि सर्व कार्य करते हैं, सो उनके *
* सर्व कार्य असत्य हैं। इसलिए आगम का सेवन, युक्ति का अवलंबन, *
* परम्परा गुरुओं का उपदेश और स्वानुभव द्वारा तत्त्वनिर्णय करना योग्य है। *
* - सत्तास्वरुप ३, ४ *

* *

पत्रांक १७ १० अप्रैल १९९५

जीव के विशेष गुण और पर्यायें

प्रिय रीना एवं मोना,

अनेक उत्तम शुभाशीर्वाद।

अपना स्वयं का स्वरुप जानने की तुम्हारी उत्कंठता देखकर आठ दिन के अंदर ही यह पत्र लिख रही हूँ। आत्मा का याने अपना स्वयं का स्वरुप - लक्षण जानने की तीव्र रुचि होना यह योग्य पात्रता का दर्शक है। ऐसे ही जीव जिनवाणी का उपदेश तत्काल ग्रहण करते हैं और समझते हैं। गत पत्र में हमने देखा था कि किसी भी विशिष्ट द्रव्य को जानना है तो उसके विशेष गुणों की पर्यायों द्वारा जाना जा सकता है - प्रगट लक्षणों से उस द्रव्य (लक्ष्यीभूत पदार्थ) को जाना जा सकता है।

प्रत्येक जीव द्रव्य में चेतना अर्थात् दर्शन और ज्ञान, श्रद्धा, चारित्र, सुख, वीर्य, क्रियावती शक्ति आदि विशेष गुण हैं। दर्शन गुण का कार्य है पदार्थ का सामान्य अवलोकन करना अर्थात् सामान्य प्रतिभास होना (Reception)। जानना - यह ज्ञान गुण का कार्य है। उसमें पदार्थ का विशेष प्रतिभास (Perception) होता है। हम जीव का कार्य जानना - देखना है ऐसा कहते हैं तब देखना यह दर्शनगुण का कार्य है और जानना यह ज्ञान गुण का कार्य है। जीव का उपयोग याने Attention जब देखने की ओर होता है उसे दर्शनोपयोग कहते हैं और उपयोग जब जानने की ओर होता है उसे ज्ञानोपयोग कहते हैं। जानने की क्रिया के पूर्व याने ज्ञानोपयोग के पूर्व उस पदार्थ का जो सामान्य अवलोकन होता है वह दर्शन गुण का कार्य अर्थात् दर्शनोपयोग है।

दर्शनगुण की चार पर्यायें हैं - चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन।

१. **चक्षुदर्शन** : चक्षु इंद्रिय द्वारा जो मतिज्ञान होता है उसके पूर्व जो सामान्य प्रतिभास होता है उसे चक्षुदर्शन कहते हैं।

२. **अचक्षुदर्शन** : चक्षु के अलावा अन्य चार इंद्रियाँ और मन इनके द्वारा जो मतिज्ञान होता है उसके पूर्व जो सामान्य प्रतिभास होता है उसे अचक्षुदर्शन कहते हैं।

३. **अवधिदर्शन** : अवधिज्ञान के पूर्व होनेवाले सामान्य प्रतिभास को अवधिदर्शन कहते हैं।

४. **केवलदर्शन** : केवलज्ञान के साथ साथ होनेवाले सामान्य प्रतिभास को केवलदर्शन कहते हैं।

अभी अभी हमने देखा था कि जीव का स्वभाव जानना देखना है, जीव ज्ञाता दृष्टा है। इसमें देखना दर्शन गुण का कार्य है और जानना ज्ञान गुण का कार्य है।

हमारा उपयोग (Attention) जब देखने की ओर होता है तब जानने की ओर नहीं होता और जब उपयोग जानने की ओर लगता है तब देखने की ओर नहीं होता। हमें जो ज्ञानोपयोग होता है वह दर्शनोपयोगपूर्वक ही होता है। परंतु केवली भगवंतों का याने अरिहंत और सिद्धों का उपयोग एकसाथ ज्ञान और दर्शन दोनों में रहता है अर्थात् केवलदर्शन और केवलज्ञान युगपत् होते हैं।

ज्ञान गुण की ८ पर्यायें हैं - उनमें **मिथ्याज्ञान की तीन पर्यायें हैं**। वे इसप्रकार हैं - कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान, कुअवधिज्ञान। कुअवधिज्ञान को ही विभंगज्ञान ऐसा भी कहने में आता है। जब तक सम्यग्दर्शन - सम्यग्ज्ञान अर्थात् आत्मज्ञान नहीं होता तब तक हम कितना भी पढ़े - लिखे, कितना भी शास्त्रज्ञान करे तो भी उसे मिथ्याज्ञान ही कहते हैं। आत्मज्ञानशून्य ऐसा जिनवाणी का ज्ञान भी मिथ्याज्ञान है ऐसा शास्त्र में ही बताया हैं। आत्मज्ञान होने के पश्चात् सभी ज्ञान - आत्मासंबंधी ज्ञान तथा अन्य पदार्थों संबंधी ज्ञान 'सम्यग्ज्ञान' हो जाता है। समझो, मिथ्यादृष्टि को इतिहास, भूगोल, गणित का ज्ञान है उसे मिथ्याज्ञान कहते हैं और उसी जीव को सम्यग्दर्शन होनेपर उसके उस इतिहास, भूगोल और गणित के ज्ञान को भी सम्यग्ज्ञान कहते हैं क्योंकि अब उस जीव को वस्तुस्वरुप का ज्ञान है, स्व और पर का भेदविज्ञान है और स्व का प्रत्यक्ष अनुभव है।

सम्यग्ज्ञान की पांच पर्यायें हैं – सुमतिज्ञान, सुश्रुतज्ञान, सुअवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान। जब तक केवलज्ञान नहीं होता तब तक सभी संसारी जीवों को एकेंद्रिय से लेकर पंचेंद्रिय तक के जीवों को मति और श्रुत ये दो ही ज्ञान (ये दो पर्यायें) होते हैं। इस ज्ञान का पूर्ण अभाव कभी भी नहीं होता। सूक्ष्म एकेंद्रिय जीव में भी ज्ञान का कुछ अंश पर्याय में प्रगट रहता ही है। कोई भी जीव कभी भी ज्ञान रहित हो ही नहीं सकता। पर्याय में ज्ञान का उघाड़ (बुद्धि) कम ज्यादा रह सकता है। मिथ्या या सम्यक् ऐसा भेद किये बिना ज्ञान की पांच पर्यायों का अर्थात् मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान एवं केवलज्ञान का स्वरुप अब देखेंगे।

मतिज्ञान – इंद्रिय और मन के निमित्त से पदार्थों को जानना इसे मतिज्ञान कहते हैं। यह तो परपदार्थों का परोक्ष ज्ञान हुआ। परंतु जब जीव निज आत्मा को जानता है तब इंद्रिय और मन की तरफ से उपयोग को हटाकर, अंतर्मुख बनकर, उपयोग को स्वसन्मुख करता है, उस समय निज आत्मा का जो ज्ञान होता है उसे मतिज्ञान कहते हैं। यह प्रत्यक्ष (स्वानुभव प्रत्यक्ष) ज्ञान है।

श्रुतज्ञान – मतिज्ञान से जाने हुअे पदार्थ से संबंधित अन्य पदार्थ को जाननेवाले ज्ञान को श्रुतज्ञान कहते हैं। जैसे, 'शक्कर' यह शब्द सुना या पढ़ा तब उस शब्द का जो ज्ञान हुआ वह मतिज्ञान है और उस शब्द के द्वारा सूचित होनेवाला शक्कर यह पदार्थ जाना वह श्रुतज्ञान है। तुम्हारे मस्तिष्क में कौनसा

सवाल उठ रहा है वह मैं समझ गयी। यही ना, कि जिन जीवों को केवल एक या दो इंद्रिय हैं उन्हें श्रुतज्ञान कैसे होता है? उसका उत्तर है - एकेंद्रिय जीवों को स्पर्शन इंद्रिय के निमित्त से स्पर्श का ज्ञान होता है वह मतिज्ञान है और यह स्पर्श दुःखरुप है ऐसा जो ज्ञान हुआ वह श्रुतज्ञान है।

आत्मा की शुद्ध अनुभूतिरुप श्रुतज्ञान को भावश्रुतज्ञान कहते हैं। ऐसे आत्मा के संबंध में विवेचन, चर्चा, लक्षण, आत्मानुभूति का उपाय आदि जिन शास्त्रों में बताया है उस समस्त आगम को - जिनवाणी को 'द्रव्यश्रुत' कहते हैं। इससे यह बात ख्याल में आती है कि द्रव्यश्रुत अथवा दिव्यध्वनि भी शब्दों की रचना है, वाणी है, ज्ञान की पर्याय नहीं है। अगर कोई कहेगा कि शास्त्र में ज्ञान नहीं है, दिव्यध्वनि में ज्ञान नहीं है तो अब तुम्हें आश्चर्य नहीं होगा, अपेक्षा ध्यान में आयेगी।

अवधिज्ञान – जो ज्ञान द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव इनकी मर्यादा के साथ रुपी पदार्थों को स्पष्ट जानता है उस ज्ञान को अवधिज्ञान कहते हैं। देवगति के देवों को और नरक गति के नारकीयों को अवधिज्ञान होता ही है। इन दोनों भवों के जीवों में वह होता ही है इसलिए उसे 'भवप्रत्यय अवधिज्ञान' कहते हैं। कुछ संज्ञी पंचेंद्रिय तिर्यंचों और मनुष्यों को भी अवधिज्ञान हो सकता है। इस ज्ञान द्वारा भविष्यकालीन, भूतकालीन तथा अन्य क्षेत्र में हो रही वर्तमान घटनाओं को ये जीव जान सकते हैं - इन बातों को गुणप्रत्यय अवधिज्ञान कहते हैं। यह कोई चमत्कार नहीं है। कुअवधिज्ञान द्वारा भी इन बातों को जान सकते हैं। इस ज्ञान के कारण उस विशिष्ट व्यक्ति को त्रिकालदर्शी या साधुपुरुष होने का दावा कराके अनेक भोले लोगोंको उनकी चंगूल में फँसाया जाता है। परंतु अवधिज्ञान का स्वरुप मालूम होने से हमें अब उसमें कोई चमत्कार भासित होने की संभावना नहीं रहती। सम्यग्दृष्टि के अवधिज्ञान को सुअवधिज्ञान कहते हैं।

मनःपर्ययज्ञान – यह ज्ञान किसी किसी भावलिंगी मुनि को ही होता है। नग्न दिगंबर भावलिंगी मुनि के अलावा अन्य किसी को भी हो नहीं सकता। जो ज्ञान द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादासहित दूसरों के मन में स्थित रुपी पदार्थों को स्पष्ट जानता है उसको मनःपर्ययज्ञान कहते हैं।

केवलज्ञान – जो ज्ञान तीन काल के (भूत, वर्तमान, भविष्य) और अलोकाकाश सहित तीनों लोकों के समस्त द्रव्य-गुण-पर्यायों को एक ही समय में युगपत्, स्पष्ट, प्रत्यक्ष जानता है उसे केवलज्ञान कहते हैं। इसकी विशेषता यह है कि केवली भगवान सब पदार्थों की तरफ देखकर सब को जानते हैं ऐसा नहीं है, वे तो निज आत्मा में पूर्णतः रममाण हुअे हैं। वे अपनी आत्मा को पूर्णरुप से जानते हैं। उन्हें अनंतज्ञान प्रगट हुआ है और विश्व की समस्त चराचर मूर्त अमूर्त वस्तुएँ उनके ज्ञान में प्रतिसमय झलकती हैं। अनंत वस्तुओं का और अनादि से अनंत

काल तक का ज्ञान उन्हें वर्तमानवत् प्रत्यक्ष होता है। यही तो ज्ञान के स्वपरप्रकाशकपने की महिमा है - बड़प्पन है।

इससे क्रमबद्धपर्याय की सिद्धि होती है इस बात को हमने प्रमेयत्व गुण की चर्चा के संबंध में देखा ही था। भविष्य में होनेवाली पर्याय जान सकते हैं क्योंकि वह ज्ञान की क्षमता है, योग्यता है, सामर्थ्य है। परंतु कोई भी पर्याय रंचमात्र भी बदल नहीं सकते, आगे-पीछे नहीं कर सकते, उसमें जरा सा भी फेरफार नहीं कर सकते। प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय स्वतंत्र है और वह सुनिश्चित है ऐसा दृढ निर्णय होना यही पुरुषार्थ है। क्योंकि ऐसा निर्णय होनेपर हमारी दृष्टि दूसरों की और अपनी भी पर्यायों पर से हटकर अपने त्रिकाल कायम रहनेवाले द्रव्यस्वभाव पर केंद्रित होती है। इसलिए ज्ञान की पर्यायों का स्वरुप जानकर क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करना यही हमारा कर्तव्य है। 'पर्याय क्रमबद्ध होगी तो हमारा पुरुषार्थ क्या रहा ?' ऐसा विपरीत निष्कर्ष निकालना योग्य नहीं।

एक समय में ज्ञान की एक ही पर्याय होती है। परंतु एक जीव को कौन कौनसे ज्ञान (पर्यायें) हो सकते हैं इसे अब देखते हैं। कम से कम एक ज्ञान याने केवलज्ञान होता है। एक केवलज्ञान होनेपर अन्य ज्ञानों की जरुरत ही क्या होगी, है ना? किसी को दो ज्ञान होंगे तो मतिज्ञान और श्रुतज्ञान होंगे। ये दोनों या तो मिथ्या होंगे या दोनों सम्यक् होंगे। किसी को तीन ज्ञान हो सकते हैं वे इसप्रकार - (१) मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान - तीनों मिथ्या अथवा तीनों सम्यक्। अथवा (२) सुमतिज्ञान, सुश्रुतज्ञान और मनःपर्ययज्ञान।

किसीको चार ज्ञान होंगे तो - सुमतिज्ञान, सुश्रुतज्ञान, सुअवधिज्ञान, और मनःपर्ययज्ञान ये चार ज्ञान होते हैं।

जीव के श्रद्धा गुण की मुख्यतः दो पर्यायें होती हैं - मिथ्यादर्शन और सम्यग्दर्शन।

मिथ्यादर्शन – अतत्त्वश्रद्धान को मिथ्यादर्शन ऐसा कहा है। उस जीव को स्वतत्त्व की श्रद्धा नहीं होती। जीवादि सात तत्त्वों के बारे में उसकी विपरीत श्रद्धा होती है। देह में आत्मबुद्धि, रागद्वेषादि भावों में कर्तृत्व-भोक्तृत्वबुद्धि, परपदार्थों में ममत्वबुद्धि, स्वामित्वबुद्धि, पुण्य को भला- पाप को बुरा मानना, पुण्य करते करते मोक्ष की प्राप्ति होगी ऐसी विपरीत मान्यताओं को - श्रद्धा को मिथ्यादर्शन कहते हैं। यह जनम से ही रहता है उसे अगृहित मिथ्यादर्शन कहते हैं। कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्रों के सेवन से मिथ्यात्व का पोषण होता है तथा नवीन मिथ्या कल्पनाओं की श्रद्धा उत्पन्न होती है उसे गृहित मिथ्यादर्शन कहते हैं।

सम्यग्दर्शन – जो जीव वीतराग सर्वज्ञ कथित तत्त्वों का उपदेश ग्रहण करके जीवादि सात तत्त्वों का यथार्थ निर्णय करता है, देव-गुरु और शास्त्र के स्वरुप का निर्णय करता है, मोक्षमार्ग का निर्णय करता है, स्वतत्त्व एवं परतत्त्व का निर्णय

करके स्व-पर भेदविज्ञान करता है और अंतर्मुख होकर स्व का चिंतन मनन करके आत्मानुभव प्राप्त करता है तब उस जीव के श्रद्धा गुण की सम्यग्दर्शन यह पर्याय प्रगट होती है।

सम्यग्दर्शन की पर्याय के साथ ही उसीसमय ज्ञान की सम्यग्ज्ञान यह पर्याय और चारित्र की सम्यक्चारित्र यह पर्याय प्रारंभ होती है। केवल तीन गुण ही नहीं परंतु जीव के सभी अनंत गुण स्वभावरुप से परिणमन प्रारंभ करते हैं। आत्मा में लीन रहनेपर याने शुद्धोपयोग में अतींद्रिय सुख की अनुभूति होती है। जितना कषायों का अभाव होगा उतनी अकषायरुप शांति प्राप्त होगी।

जीव शुद्धोपयोग में से शुभोपयोग में अथवा अशुभोपयोग में आने पर भी अब श्रद्धा की सम्यग्दर्शन पर्याय चालू ही रहती है। बारम्बार शुद्धोपयोग करने से उसकी यह सम्यक् श्रद्धा दृढ़ होती रहती है।

कदाचित् कोई जीव सम्यग्दर्शन से च्युत होकर मिथ्यादर्शन पर्याय प्राप्त करता है। परंतु पुनश्च पुरुषार्थ से सम्यक्त्व प्राप्त कर सकता है। करणानुयोग की अपेक्षा से श्रद्धा गुण की सासादन और मिश्र ये दो अवस्थायें (पर्याय) सम्यक्त्व से गिरनेवाले जीवों में संभव है परंतु वे पर्यायें अल्पकाल के लिए होती है और उसका वर्णन हमें यहाँ पर अपेक्षित नहीं हैं।

चारित्र गुण की पर्यायों का विस्तृत वर्णन आगामी पूरे एक पत्र में लिखूँगी क्योंकि वह विषय बड़ा है। सम्यग्दर्शन के साथ सम्यक्चारित्र यह चारित्र गुण की पर्याय प्राप्त होनेपर भी उस पर्याय में सरागता एवं वीतरागता एकसाथ विद्यमान रहती है। क्रम से कषाय (सरागता) कम होते हैं और वीतरागता बढ़ती जाती है। कषाय पूर्णतः नष्ट होकर पूर्ण वीतरागता प्राप्त होती है, उसके पश्चात् ही ज्ञान की मति-श्रुतज्ञान पर्याय का अभाव होकर केवलज्ञान पर्याय उत्पन्न होती है।

ज्ञान, दर्शन, श्रद्धा, चारित्र के समान सुख और वीर्य ये भी जीव के विशेष गुण हैं। **सुख गुण की अतींद्रिय सुख यह स्वभावपर्याय है** और हम जिसे सुख मानते हैं वह **इंद्रियजनित सुख और दुःख ये विभावपर्यायें हैं**। आत्मानुभूति होती है उससमय अतींद्रिय ज्ञान और अतींद्रिय सुख प्रगट होता है। जितनी आत्मस्थिरता बढ़ेगी उतना अधिक सुख होगा। पूर्ण वीतरागता के साथ पूर्ण सुख की प्राप्ति होती है और केवलज्ञान के होते ही अनंत सुख की प्राप्ति होती है।

वीर्य भी जीव का विशेष गुण है। वीर्य याने बल। शरीर का बल यह जीव के वीर्य गुण का कार्य नहीं है। **वीर्य गुण की पर्याय का नाम है 'पुरुषार्थ'**। स्वभाव की रचना करना यह वीर्य गुण का कार्य है। मोक्ष की ओर ले जानेवाला ही सच्चा पुरुषार्थ है। हम लौकिक में जिसे पुरुषार्थ कहते हैं वह विभाव पर्याय है, क्योंकि उससे संसार का ही पोषण होता है। आत्मा का स्वभाव तो अनादि से है वैसा ही

कायम है परंतु उस स्वभाव का निर्णय करना, दृष्टि को उस ओर ले जाना, स्वभाव की श्रद्धा करना, स्वभाव में स्थिर होना यह सब वीर्य गुण का कार्य है, इसीको 'पुरुषार्थ' कहते हैं।

क्रियावती शक्ति यह भी जीव का विशेष गुण है। उसकी **गतिरुप** और **स्थितिरुप** ऐसी दो पर्यायें हैं। जीव का गमन करना या स्थिर रहना यह जीव की क्रियावती शक्ति का कार्य है और पुद्गल का गमन करना या स्थिर रहना यह पुद्गल की क्रियावती शक्ति का कार्य है। जीव और शरीर इनका एक ही काल में (एकसाथ) परिणमन होता है तब जीव को ऐसी भ्रांति होती है कि शरीर का हलनचलन, क्रियायें मैं ही कर रहा हूँ।

कौनसी पर्यायें पुद्गल की हैं और कौनसी मेरी अर्थात् जीव की हैं यह समझने के बाद लक्षणों द्वारा जीव और पुद्गल को भिन्न भिन्न पहचानना अब आसान हो गया है। 'अपने को पहिचानिए' यही हमारा प्रयोजन होने से विशेष गुणों का यह अभ्यास हमारे लिए बहुत कार्यकारी ठहरेगा।

जीव और पुद्गल के अतिरिक्त अन्य जो चार द्रव्य हैं - धर्म, अधर्म, आकाश और काल, उनके विशेष गुणों के संबंध में 'द्रव्य का स्वरुप' नामके पत्र में चर्चा हो ही गयी है। चारित्र गुण विषयक पत्र भी शीघ्र ही भेज रही हूँ।

तुम्हारी माँ

★ ★★★★★★★★★★★★★★★★★★★★★★★★★★★★★ ★

यह आत्मा जब कषायादि रहित शांतभाव में स्थित रहता है तब वह महान उत्तम तीर्थ है। यदि आत्मा में शांति नहीं है तो तीर्थयात्रा निरर्थक है। शील और व्रतरुपी जल में स्नान करने से देहधारी आत्मा की शुद्धि होती है परंतु समस्त पृथ्वी के तीर्थों की नदियों में स्नान करने से आत्मा की शुद्धि हो नहीं सकती। जो कोई दयावान रागद्वेषादि भावों को त्यागकर आत्मा के वीतराग भाव में स्नान करता है उसे ध्यान की निर्मलता प्राप्त होती है। मात्र पानी से नहाने से पवित्रता नहीं आती। आत्मज्ञानरुपी जल से आत्मा को नित्य स्नान कराना चाहिए, जिससे जीव के जन्म-जन्मांतर के पाप धुलकर निर्मलता प्राप्त होती है और वह परभव में भी साथ जाती है।

- श्री. कुलभद्राचार्य 'सारसमुच्चय'

★ ★★★★★★★★★★★★★★★★★★★★★★★★★★★★★ ★

पत्रांक १८ १६ अप्रैल १९९५

जीव का चारित्र गुण और पर्यायें

प्रिय रीना एवं मोना,

अनेक उत्तम शुभाशीर्वाद।

अब तक हमने पत्रों द्वारा विश्व, द्रव्य, गुण, पर्याय, सामान्य गुण, विशेष गुण तथा अन्य भी कई बातों को जाना। जैन तत्त्वज्ञानका 'ओनामा' हमने किया। 'ओनामा करना' का अर्थ होता है प्रारंभ करना, यह शब्द कैसे बना पता है? उसका फुलफॉर्म है 'ओनामासिदं' इस मराठी बोलीभाषा के शब्दों का शुद्ध रुप - मूल शब्द हैं 'ओम् नमः सिद्धं।' पहले के जमाने में बालक की पढ़ाई प्रारंभ करते समय उसका हाथ पकड़कर स्लेट के ऊपर 'ॐ नमः सिद्धं' ऐसा लिखाया जाता था और ऐसा लिखकर ही पढ़ाई कराने का शुभारंभ होता था। इससे किसी भी बात का प्रारंभ करना के अर्थ में 'ओनामा करना' ऐसा वाक्प्रचार प्रचलित है।

सामान्य गुणों का स्वरुप हमने जाना। छहों द्रव्यों में ये गुण पाये जाते हैं इसलिए जहाँ इन गुणों की सिद्धि होती है वह 'द्रव्य' है इतना तो हम जान सकते हैं। परंतु छहों द्रव्यों में से वह निश्चित कौनसा द्रव्य है यह पहचानने के लिए उसके विशेष गुण जानना आवश्यक है। उन विशेष गुणों की विस्तृत चर्चा हम करते आये हैं। गुण तो शक्ति है, capacity है जो अनादि से अनंत काल तक कायम रहती है, उसका प्रति समय प्रगट रुप जो कार्य है - अवस्था है - व्यक्तरुप है उसे हम पर्याय कहते हैं। उस प्रगट पर्याय द्वारा ही हमें गुण की पहचान होती है। इसलिए इन विशेष गुणों की पर्यायों का अभ्यास हम कर रहे हैं। पुद्गल के विशेष गुणों और पर्यायों की चर्चा के उपरांत गत पत्र में जीव के विशेष गुणों और उनकी पर्यायों की चर्चा हमने की थी। उसमें से चारित्र गुण की चर्चा आज हम करने जा रहे हैं।

जीवद्रव्य अन्य द्रव्यों से भिन्न है वह उसके चैतन्य स्वभाव के कारण याने ज्ञानदर्शन गुण के कारण। तत्त्वार्थसूत्र ग्रंथ में 'उपयोगो लक्षणम्' ऐसा जीव का लक्षण बताया है। उपयोग के भेद हैं ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग याने जानना और देखना। उपयोग याने Attention जब स्व को जानने में लगता है उसे शुद्धोपयोग कहते हैं, जब परपदार्थों को जानते हुअे शुभ भाव होते हैं उन्हें जानने में उपयोग लगता है वह शुभोपयोग है और अशुभ भाव होते है उन्हें जानने में उपयोग लगता है वह अशुभोपयोग है। ये शुभ अशुभ भाव अर्थात् रागद्वेष है - इसी को कषाय कहते हैं।

अब तुम ही बताओ, यह कषाय क्या है? द्रव्य है? गुण है कि पर्याय है? द्रव्य तो नहीं क्योंकि छह द्रव्यों के नाम तो हमें पता है। कषाय मात्र जीवद्रव्य में ही पायी जाती है परंतु सब जीवों में नहीं। अरिहंत - सिद्धों में कषायें नहीं होती

इसकारण कषाय गुण भी नहीं हो सकता। इससे पता चलता है कि कषाय पर्याय है और वह जीव के चारित्र गुण की पर्याय है। परंतु वह स्वभाव पर्याय याने शुद्ध पर्याय नहीं परंतु विभाव पर्याय है, अशुद्ध पर्याय है। चारित्र गुण के शुद्ध पर्याय को वीतरागता कहते हैं और अशुद्ध पर्याय को सरागता - कषाय कहते हैं। अन्य गुणों की अपेक्षा चारित्र गुण में यह विशेषता है कि यह गुण एक झटके में पूर्ण शुद्ध नहीं होता। क्रम से शुद्धि बढ़ती है और अशुद्धि कम हो जाती है। सम्यग्दर्शन होनेपर चारित्र गुण में आंशिक वीतरागता एवं आंशिक सरागता ऐसी दो धारायें एकसाथ विद्यमान रहती हैं।

मिथ्यात्व अवस्था में चारित्र गुण का केवल राग-द्वेषरुप परिणमन चलता है, उसे कषाय कहते हैं। कषाय से हम परिचित हैं क्योंकि दिनरात हम कषाय ही तो करते रहते हैं। जो कसता है - दुःख देता है उसे कषाय कहते हैं अथवा जिससे संसार की प्राप्ति होती है (कस + आय) उसे कषाय कहते हैं। कषाय को दो शब्दों में बताना हो तो राग और द्वेष तथा चार शब्दों में बताना हो तो क्रोध, मान, माया और लोभ कहते हैं। सब कषायों को पच्चीस नामों में विभाजित कर सकते हैं -

१ से ४	अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ -	(पहली चौकड़ी)
५ से ८	अप्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ -	(दूसरी चौकड़ी)
९ से १२	प्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया लोभ -	(तीसरी चौकड़ी)
१३ से १६	संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ -	(चौथी चौकड़ी)

हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद ये नौ नोकषाय मिलकर कुल पच्चीस कषायें हैं।

जब जीव के क्रोध कषाय उत्पन्न होती है तब दूसरे का बुरा करने की इच्छा होती है और उसके अर्थ गाली देना, कठोर वचन बोलना, मारना आदि अनेक उपाय करता है।

जब इसके मान कषाय उत्पन्न होती है तब औरों को नीचा और अपने को ऊँचा दिखाने की इच्छा होती है और उसके अर्थ अनेक उपाय सोचता है।

जब इसके माया कषाय उत्पन्न होती है तब छल कपट द्वारा कार्य सिद्ध करने की इच्छा होती है।

जब लोभ कषाय उत्पन्न होती है तब इष्ट पदार्थ के लाभ की इच्छा होने से उसके अर्थ अनेक उपाय सोचता है। इसका विस्तृत वर्णन तुम्हें मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रंथ के तीसरे अधिकार में 'चारित्र मोह से दुःख' इस शीर्षक के अंतर्गत मिलेगा, वहाँ से जरुर पढ़ना।

इन कषायों के साथ नोकषाय होती हैं। हास्य कषाय में खोटी कल्पना करके विशिष्ट बात में हर्ष मानता है और हँसने लग जाता है। रति कषाय में इष्ट वस्तु में अति आसक्त होता है। अरति कषाय में अनिष्ट वस्तु के संयोग में व्याकुल होता है।

शोक कषाय में इष्ट का वियोग या अनिष्ट का संयोग होने से अतिव्याकुल होकर संताप से रोता है, पुकारता है, अति दुःख करता है। भय कषाय में किसी को इष्ट वियोग और अनिष्ट संयोग का कारण जानकर डरता है, भागता है, छिपता है। जुगुप्सा उत्पन्न होती है तब अनिष्ट वस्तु से घृणा करता है। तीनों वेद कषायों में कामभावना जागृत होती है, संभोग की इच्छा होती है।

यें सभी कषायें दुःखरुप हैं क्योंकि उनसे आकुलता उत्पन्न होती है। तथा वे आगामी दुःख के कारण भी हैं क्योंकि कषायों से नवीन बंध होता है और उस बंध का फल संसार परिभ्रमण है। जिनका सब कषायों का - सब इच्छाओं का अभाव हो गया है ऐसे अरिहंत और सिद्ध पूर्ण वीतरागी हैं और वे ही अनंत सुखी हैं। सर्वज्ञता के कारण उनके केवलज्ञान में संपूर्ण लोकालोक का तीनों काल का ज्ञान एक समय में झलकता है परंतु वीतरागता के कारण उन्हें राग-द्वेष नहीं होते। इससे विपरीत, हमारा ज्ञान अति अल्प होनेपर भी वह रागसहित याने कषाय सहित होने से हमें दुःख ही होता है। जैसे, हम हापूस का आम देखते हैं अर्थात् उसे जानने का कार्य (ज्ञान गुण की पर्याय) होता है, उसी समय चारित्र गुण भी परिणमन करता है, उसका रागरुप परिणमन होता है कि यह आम मुझे प्राप्त हो और मैं उसे खाऊँ ऐसी इच्छा होती है। जब तक इच्छा पूर्ण नहीं होती तब तक आकुलता याने दुःख होता है। सच देखा जायें तो दुःख इच्छा से होता है, कषायों के कारण होता है, परंतु हम परद्रव्य को सुख-दुःख का कारण मानकर निरंतर राग-द्वेष करते रहते हैं।

ऊपर हमने अनंतानुबंधी आदि चार चौकड़ी के नाम देखे। अब संक्षेप में उनका स्वरुप देखते हैं। कषायों की तीव्रता या मंदता के अनुसार ये भेद नहीं है परंतु उनकी जाति ही भिन्न भिन्न हैं।

मिथ्यात्व दशा में जीव के अनंतानुबंधी आदि चारों कषाय चौकड़ी विद्यमान रहती हैं। अनंतानुबंधी कषाय के कारण जीव को अतत्त्वश्रद्धान होता है अर्थात् जो तीव्रकषायी हैं उन्हें सत्य तत्त्वों का श्रद्धान हो नहीं सकता, आत्मा की और धर्म की चर्चा में उन्हें तीव्र अरुचि एवं चीढ़ रहती है, ऐसा जीव कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र का सेवन करने लग जाता है। मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी कषाय वैसे हाथ में हाथ मिलाकर चलते हैं, दोनों एकदूसरे को पूरक हैं।

सच्चे देव, गुरु, शास्त्र का स्वरुप समझकर उनके गुणों प्रति भक्ति करने से, प्रयोजनभूत तत्त्वों का चिंतन - मनन करने से ये कषाय और मोह मंद पड़ते हैं और तब जीव सम्यग्दर्शन के लिए पात्र बनता है। ऐसा जीव जब आत्मलीनता का पुरुषार्थ करता है तब आत्मानुभव होता है। अर्थात् सम्यक्त्व प्राप्त होता है और अनंतानुबंधी कषायों का अभाव होता है। तब उस चारित्र गुण की पर्याय को स्वरुपाचरण चारित्र कहते हैं। इसी को सम्यक्त्वाचरण चारित्र भी कहने में आता है।

ऐसे सम्यक्त्वी जीव को अब तीन चौकड़ी कषायों का सद्भाव रहता है। अप्रत्याख्यान कषायों के कारण किंचित् भी त्याग तथा व्रत नहीं होते। प्रत्याख्यान का अर्थ होता है त्याग। जो कषाय थोड़ा भी त्याग नहीं होने देती वे अप्रत्याख्यान कषाय हैं। यह जीव जब अधिक आत्मस्थिरता करता है तब अप्रत्याख्यान कषायों का अभाव होता है, उस अवस्था को **देशचारित्र** कहते हैं। इसे दो कषाय चौकड़ी का अभाव तथा दो कषाय चौकड़ी का सद्भाव रहता है। इस जीव को व्रतीश्रावक ऐसी संज्ञा है। प्रत्याख्यान कषायों का सद्भाव होने से संपूर्ण अंतरंग और बहिरंग त्याग नहीं हो सकता, मुनियोग्य अंतरंग स्थिरता नहीं होती।

तीन कषाय चौकड़ी का अभाव होता है तब उस अवस्था को **सकल चारित्र** कहते हैं। इस अवस्था में संज्वलन कषाय अभी विद्यमान हैं। उनके कारण अंतरंग में पूर्ण स्थिरता एवं पूर्ण वीतरागता नहीं हो सकती। मुनि अवस्था में २८ मूलगुण पालन करने का जो राग है, वह इन संज्वलन कषायों का ही रुप है।

अंतरंग स्थिरता बढ़ते-बढ़ते जीव जब पूर्णरुपसे अंतरंग में लीन हो जाता है, पूर्ण वीतराग होता है तब संज्वलन कषायों का भी पूर्ण अभाव होकर यथाख्यात चारित्र प्राप्त होता है। चारित्र गुण पूर्ण शुद्ध अवस्था को प्राप्त होता है।

ऊपर के संपूर्ण विवेचन से एक बात ज्ञान में आती है कि कषाय (राग) करते करते वीतरागता नहीं होती, अपितु कषायों का अभाव करके वीतरागता होती है। शुभ या अशुभ राग दोनों कषाय ही है। 'शुभराग करते करते वीतरागता की प्राप्ति नहीं होगी' ऐसी पूर्ण प्रतीति, पक्का विश्वास, दृढ श्रद्धा पहले होनी चाहिए। शुभराग तो छूटते नहीं है परंतु बढ़ती हुअी वीतरागता के साथ उच्च प्रति (कोटि) Quality के शुभराग होते रहते हैं। चारित्र गुण की पर्यायों संबंधी - विवेचन संक्षेप में निम्न कोष्टक द्वारा फिरसे देखते हैं।

मिथ्या चारित्र : अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान, संज्वलन चारों कषाय चौकड़ी का सद्भाव।

स्वरुपाचरण चारित्र : अनंतानुबंधी कषाय चौकड़ी का अभाव और अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान, संज्वलन इन तीन कषाय चौकड़ी का सद्भाव (सम्यग्दर्शन का प्रारंभ)

देश चारित्र : अनंतानुबंधी और अप्रत्याख्यान, इन दो कषाय चौकड़ी का अभाव तथा प्रत्याख्यान और संज्वलन इन दो कषाय चौकड़ी का सद्भाव। (व्रती श्रावक)

सकल चारित्र : अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान तीन कषाय चौकड़ी का अभाव तथा संज्वलन कषाय चौकड़ी का सद्भाव। (मुनिदशा)

यथाख्यात चारित्र : चारों कषाय चौकड़ी तथा अन्य सभी नोकषायों का पूर्ण अभाव, पूर्ण वीतरागता की प्राप्ति।

हास्यादि नौ नोकषाय हैं वे क्रम से मंद होते होते यथावकाश उनका भी अभाव होता है। उनका क्रम विस्तारभय से यहाँ नहीं लिखा है। यह विषय शायद अभी तुम्हें कठिन लगता होगा, परंतु आगे चलकर 'कर्म' 'गुणस्थान' आदि विषय पढ़ते समय तुम्हें आसानी होगी।

उक्त सब बातों का पता चलनेपर अब तुम्हारी समझ में आयेगा कि मिथ्यात्व अवस्था में केवल बाह्य व्रतों का अंगिकार करने से या बाह्यत्याग करने से अनंतानुबंधी आदि कषायों का अभाव नहीं होता परंतु उसके अर्थ सम्यग्दर्शन प्राप्त करके आत्मस्थिरता करना एवं वीतरागता प्राप्त करना यही एकमेव उपाय है।

'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' ऐसी सग्यग्दर्शन की परिभाषा है। ये प्रयोजभूत तत्त्व कौनसे हैं और उनका श्रद्धान करना याने क्या करना ये बातें आगामी पत्र में करेंगे।

तुम्हारी माँ

❀ ❀

❀ अयि कथमपि मृत्वा तत्त्व कौतुहली सन् ❀
❀ अनुभव भयमूर्तेः पार्श्ववर्ती मुहूर्त्तम्। ❀
❀ पृथगत विलसंतं स्वं समालोक्य येन ❀
❀ त्यजसि झगिति मूर्त्या साकमेकत्यमोहं॥ ❀

❀ अरे भाई! किसी भी प्रकारसे - मरकर भी महाकष्ट से भी ❀
❀ आत्मतत्त्व का जिज्ञासु कौतुहली होकर इस शरीरादि मूर्त द्रव्य का दो घड़ी ❀
❀ के लिए पड़ौसी होकर आत्मानुभव कर कि जिससे अपने आत्मा के ❀
❀ विलासरुप, सर्व परद्रव्यों से भिन्न देखकर इस शरीरादि मूर्तिक पुद्गल ❀
❀ द्रव्य के साथ एकत्व के मोह को शीघ्र ही छोड़ देगा। ❀

❀ - श्री. अमृतचंद्राचार्य 'समयसार कलश' २३ - १ ❀

❀ ❀

पत्रांक १९ ११ मई १९९५

प्रयोजनभूत तत्त्व

प्रिय रीना एवं मोना,

अनेक उत्तम शुभाशीर्वाद।

रीना, तुम पूना आयी थी, तुम्हें पता है कि तुमने प्रतिदिन ७ घण्टे ऐसे १० दिवसीय शिबीर अटेंड किया तो तुम्हें ७० घण्टे का प्राथमिक ज्ञान प्राप्त हुआ। अगर तुम मायके में पूरा एक महिना भी रहती तो भी तुम्हें यह ज्ञान प्राप्त न होता! क्योंकि वहाँ तुम बेटी के नाते नहीं अपितु शिष्या बनकर आयी थी।

मोना, तुम तो दवाखाने के उद्घाटन की तैयारी में व्यस्त होने से आ नहीं सकी इसका मुझे दुःख हुआ। अरी, रीना भी रोज आधा घण्टा बालकों का क्लास चलाती थी। तुम्हारे पिताजी ४ घण्टे, मैं तीन घण्टे, ढोकर गुरुजी १ घण्टा और रीना आधा घण्टा पढ़ाते थे इसप्रकार कुल ८॥ घण्टों का प्रतिदिन प्रोग्रॅम रहता था। अस्तु, दवाखाने में शुरुशुरु में काफ़ी समय खाली रहता है। वहाँ बैठे बैठे तत्त्वज्ञान के अभ्यास का अवसर प्राप्त होगा, उस बचे हुअे वक्त का अधिक से अधिक लाभ उठा लो।

रीना-मोना, गत पत्र में हमने चारित्र गुण की चर्चा की थी। द्रव्य, गुण, पर्याय के अभ्यास द्वारा हमने पहले ही देखा था कि गुण उसके द्रव्य के सम्पूर्ण भागों में रहते हैं। तात्पर्य यह हुआ कि जीव द्रव्य का ज्ञान गुण उसके संपूर्ण भागों में रहता है, श्रद्धा गुण जीव के संपूर्ण भागों में रहता है तद्वत् चारित्र गुण भी जीव के संपूर्ण भागों में रहता है।

अर्थात् जितना (जो) क्षेत्र द्रव्य का होता है, उतना ही (वही) क्षेत्र उसके प्रत्येक गुण का होता है और जितना (जो) क्षेत्र गुण का होता है उतना ही (वही) क्षेत्र उस गुण के पर्यायों का होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि जो जीवद्रव्य का क्षेत्र है, वही उसके चारित्र गुण का क्षेत्र और वही चारित्र गुण की पर्याय का क्षेत्र है। इससे इस बात का पता चलता है कि किसी भी द्रव्य के गुणों की पर्यायें याने द्रव्य की पर्यायें उस विशिष्ट द्रव्य के क्षेत्र तक ही मर्यादित रहती हैं, द्रव्य को छोड़कर द्रव्य के बाहर वह पर्याय जा नहीं सकती, फैल नहीं सकती।

जीव के चारित्र गुण की विभावपर्याय याने कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ) हो या स्वभावपर्याय-वीतरागता हो, उस पर्याय का क्षेत्र जीवद्रव्य के बाहर नहीं होता। जीवद्रव्य के संपूर्ण भागों में यह पर्याय व्याप्त होती है, जीवद्रव्य के बाहर अन्य द्रव्य में व्यापती नहीं। इसीलिए चारित्र की पर्याय शरीर में नहीं, जीवद्रव्य में होती है।

वर्तमान में हमारी जो मनुष्यपर्याय है - अवस्था है वह असमानजातीय द्रव्यपर्याय है अर्थात् एक जीवद्रव्य और अनंत पुद्गल परमाणु (आहारवर्गणा, तेजसवर्गणा, मनोवर्गणा, कार्माणवर्गणा आदि) ऐसे अन्य अन्य जाति के द्रव्यों की एकबंधानरुप - संयोगरुप स्थिति है। ऐसे संयोग में रहनेवाला जीव उसके संयोग में रहनेवाले पुद्गल को याने देह को 'स्व' मानता है और देहाश्रित क्रिया - आचरण - Behaviour को अपना आचरण याने चारित्र मानता है तब गडबड घोटाला शुरु होता है।

जब चारित्र गुण की सकल चारित्र यह अवस्था होगी (तीन कषाय चौकडी का अभाव और संज्वलन कषाय का सद्भाव इनके सहित वीतरागता) तब उस मनुष्य का (मुनि का) बाह्य आचरण भी तदनुकूल रहता है। उसका वर्णन चरणानुयोग के विभिन्न ग्रंथों में - श्रावकाचारों में लिखा हुआ है। शरीर की इन क्रियाओं को उपचार से चारित्र कहा जाता है। ऐसा कहना १००% सही होने पर भी वैसा ही मानना और मात्र बाह्य क्रियाओं को ही चारित्र मानना १००% गलत है।

जैसे कथन में 'घी का घड़ा' ऐसा हम कहते हैं परंतु उससमय मान्यता में 'जिस घड़े में घी रख्खा है वह घड़ा' ऐसा यथार्थ मानते हैं। उसीतरह देह के आचरण को चारित्र कहने में दोष नहीं परंतु उस समय मान्यता में 'जिस देहधारी जीव के चारित्र गुण की सकल चारित्र यह वीतराग पर्याय है उस देह की क्रिया' ऐसा यथार्थ मानना चाहिए, तो ही वह कथन भी यथार्थ होगा।

वस्तुव्यवस्था अर्थात् तत्त्वों का सत्य स्वरुप न जानने से जीव परपदार्थों को अथवा संयोगों को इष्ट अथवा अनिष्ट मानता है। जो पदार्थ इष्ट भासित होते हैं उनके प्रति अनुराग उत्पन्न होने से उन पदार्थों को प्राप्त करने की चेष्टा करता है और जो पदार्थ अनिष्ट भासित होते हैं उनके प्रति द्वेष उत्पन्न होने से उन पदार्थों को दूर करने की इच्छा होती है तब वैसी चेष्टा करता है। इससे ज्ञात होता है कि परपदार्थ या संयोग रागद्वेष के कारण नहीं होते परंतु मिथ्यात्व (अतत्त्वश्रद्धान) यही कषायों का कारण है। तत्त्वों के संबंध में विपरीत श्रद्धा, विपरीत ज्ञान एवं तदनुसार होनेवाला विपरीत आचरण इसी को मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र कहते हैं। अनादि से चला आ रहा यह मिथ्यात्व सहज ही याने उपजते ही याने निसर्गज है, इसे अगृहित मिथ्यात्व कहते हैं। तथा कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र के उपदेश से नया ग्रहण किया हुआ मिथ्यात्व 'गृहित मिथ्यात्व' है।

अन्य पशु-पंछीयों को तो केवल अगृहित मिथ्यात्व है। परंतु मानवजाति ने यहाँ भी अपना वर्चस्व (?) दिखा दिया। अगृहित मिथ्यात्व तो था ही, ऊपर से गृहित मिथ्यात्व को अंगिकार करके वह तीव्र मिथ्यात्वी हुआ।

सत्य बात यह है कि इस मानव जीवन में करने लायक एक ही बात है 'सम्यग्दर्शन की प्राप्ति एवं वीतरागता की वृद्धि'। प्रत्येक जैन शास्त्र में इसी का

उपदेश दिया है। श्रावकाचार ग्रंथों में भी सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन अधिकार है क्योंकि श्रावक का सर्वप्रथम कर्तव्य सम्यग्दर्शन प्राप्त करना यही होता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को ही धर्म अर्थात् मोक्षमार्ग कहते हैं। आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र ग्रंथ में सर्वप्रथम बताया है -

'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः। तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्।'

तत्त्वों के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं।

तथा आचार्य समंतभद्र रत्नकरंड श्रावकाचार में कहते हैं -

'सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वराः विदुः तथा **'श्रद्धानं परमार्थानाम् आप्त आगम तपोभृताम्'** सच्चे देव, गुरु, शास्त्र के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं।

तुम्हें कदाचित् संभ्रम होगा कि तत्त्वों के श्रद्धानरुप सम्यग्दर्शन करना चाहिए कि सच्चे देव, गुरु, शास्त्रों के श्रद्धानरुप सम्यग्दर्शन? अरी, दोनों एक ही है। तत्त्वों का स्वरुप जाननेपर यह बात तुम्हारें ध्यान में आ जायेगी।

इसमें सबसे पहले आवश्यक नियम तो यह है कि ये तत्त्व - अरिहंतों ने - जिनेंद्रों ने बताये हुअे तत्त्व ही होना जरुरी है। क्योंकि अन्यमतियों में भी उनके अपने तत्त्व हैं और वे भी 'हम आपको मुक्ति दिलाते हैं' - ऐसा दावा करते हैं। मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रंथ में 'विविध मत समीक्षा' नामक पांचवा अध्याय पढ़नेपर विस्तृत जानकारी मिलेगी। छहढ़ाला में कहा है, 'तातैं जिनवर कथित तत्त्व अभ्यास करिजे'।

ये प्रयोजनभूत सात तत्त्व हैं। हाँ, हाँ, मुझे पता है कि अब तुम प्रश्नों की बरसात करोगी कि तत्त्व का मतलब क्या है? प्रयोजन याने क्या? प्रयोजन तत्त्व का अर्थ क्या होता है? वे सात ही क्यों हैं और उनके नाम क्या है?

तत्त्व याने तत् + त्व = 'वह पना', - उस वस्तु का वह भाव - वस्तुपना। जैसे, वृद्धत्व का अर्थ वृद्धपना, मातृत्व का अर्थ मातृपना होता है।

प्रयोजन याने हेतु अर्थात् कारण। किसी विद्यार्थी से पूछा आपकी पढ़ाई का प्रयोजन क्या है? तब वह कहता है मुझे डॉक्टर बनना है यह मेरा प्रयोजन है। व्यापार करनेवाले का प्रयोजन है धन प्राप्त करके धनवान बनना, भोजन करनेवाले का प्रयोजन है भूख मिटाना। प्रत्येक जीव का प्रयोजन दुःख दूर करने अर्थात् सुखी होने का है। ऐसी जो बातें हैं जिनका ज्ञान प्राप्त करके और जिनकी दृढ श्रद्धा - प्रतीति - ये बातें ऐसी ही हैं अन्यथा नहीं ऐसा पक्का विश्वास - निर्णय हुअे बिना हमारा दुःख दूर नहीं होगा और सुख प्राप्त नहीं होगा उन बातों को प्रयोजनभूत तत्त्व कहते हैं।

अप्रयोजनभूत बातें जैसी हैं वैसी जानना, मानना अथवा विपरीत मानना इस कारण से मिथ्यादर्शन नहीं होता परंतु प्रयोजनभूत बातें - तत्त्व अन्यथा मानने से

मिथ्यादर्शन होता है। छहढ़ाला में पं. दौलतरामजी कहते हैं, 'जीवादि प्रयोजनभूत तत्त्व, सरधैं तिनमाहि विपर्ययत्व'।

अपना प्रयोजन क्या है ? दुःख दूर करना। किसका? 'स्व' का। उसके लिए -

१. सर्वप्रथम 'स्व' कौन है - मैं कौन हूँ इसे जाने बिना 'स्व' का दुःख दूर कैसे होगा? स्व को जानने के लिए स्व और पर (आपा पर) का ज्ञान आवश्यक है।

२. स्व और पर को एक जानकर पर का उपचार करने से 'स्व' का दुःख कैसे दूर होगा?

३. स्व से पर भिन्न है इसलिए पर में अहंकार ममकार करने से दुःख ही होता है।

४. स्व और पर का ज्ञान होने से ही दुःख दूर होगा।

इसमें स्वतत्त्व है जीवतत्त्व और परतत्त्व हैं अजीवादि तत्त्व। इन अजीवादि तत्त्वों में हम अब तक एकत्व - अहंकार, ममत्व - ममकार प्रेम करते आये हैं और दुःखी हो रहे हैं। तुम कहोगी अजीवादि तत्त्व मेरे अपने नहीं हैं तो उन्हें जाने ही क्यों? उसका उत्तर है - पर को जानने में बाधा नहीं है, पर को अपना मानने में बाधा - नुकसान है। जानने के कारण नुकसान होता तो केवलज्ञानी संपूर्ण लोकालोक को जानते हैं फिर भी वे अनंत सुखी हैं। स्वतत्त्व को - जीवतत्त्व को यह मैं हूँ ऐसा जानना है और पर - अजीवादि तत्त्वों को ये मैं नहीं हूँ ऐसा जानना हैं।

हमारा प्रयोजन है सुख प्राप्त करना। अनंत सुख मोक्ष में है इसलिए मोक्षतत्त्व का स्वरुप जानना भी आवश्यक है। कहो तो, मोक्ष कहाँ है ? स्वर्ग के ऊपर या नीचे ? चक्कर में पड़ गयी ना ? अरी, जहाँ बंध है वहीं मोक्ष होता है। बंध जीव में होता है आणि मोक्ष भी जीव में ही होनेवाला है। बंध और मोक्ष तो जीव की ही अवस्थायें हैं। जीवतत्त्व और अजीवतत्त्व द्रव्यतत्त्व हैं, अन्य सब तत्त्व उन्हीं की अवस्थायें - पर्यायतत्त्व हैं। बंध का अभाव होकर मोक्ष होनेवाला है इसलिए मोक्षतत्त्व और बंधतत्त्व का ज्ञान जरुरी है। इसमें बंध का कारण है आस्रव तत्त्व इसलिए उसे जानना भी आवश्यक है और मोक्ष का कारण याने मोक्ष का उपाय है संवर और निर्जरा तत्त्व इसलिए उन्हें यथार्थ जानना भी जरुरी है।

इसप्रकार ये सात तत्त्व हुअे कि जिन्हें जानकर यथार्थ प्रतीति करना यह सर्वप्रथम आवश्यक कर्तव्य है। अब इन्हीं तत्त्वों के नाम फिर से क्रम से लिख रही हूँ - जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष। कितना आसान है ना ? ये नाम तुरन्त याद हो जाते हैं।

रीना, तुमने पूना शिबिर में देखा है ना, कि ३ साल की सानिका, ५ साल की नताशा, ७ साल का रौनक तथा पीयुष, सुनय, आकाश ये छोटे छोटे बच्चे भी छह द्रव्य, सात तत्त्वों के नाम फटाफट बोल देते थे!

गत पत्र में चारित्र गुण की चर्चा में कौनसे कषायों के अभावपूर्वक कौनसा चारित्र होता है यह हमने देखा था। इन सब के नाम भी बड़े बच्चों को याद हो गये थे। ४ थी ५ वी क्लास से लेकर डेंटल - इंजिनियरिंग कॉलेज तक के ये बच्चे - आशित, दर्शन, प्राचि, नेहा, पूर्वा, सायली, पल्लवी, मोनिका, अभिजीत, अमित, सुदीप और अन्य भी अनेक, एक दो शिबिरों में ही इतने परफेक्ट तैयार हो गये हैं कि वे बधाई के पात्र हैं। अंग्रेजी मिडियम में पढ़नेवाले ये बच्चे रोज ८॥ घण्टे सभी प्रवचन अटेंड किया करते थे, शिबिर की व्यवस्था में जुड़ जाते थे, शाम ६ बजने से पूर्व भोजन करके रीना के क्लास में आकर बैठते थे। आजकल के बच्चों की आकलन शक्ति Grasping Power बहुत है। पढ़ानेवाले का उत्साह द्विगुणित होता है।

आज प्रयोजनभूत तत्त्वोंसंबंधी मामुली सी पहचान हुओ। आगामी कुछ पत्रों द्वारा हम विस्तृत चर्चा करेंगे। निम्नलिखित बातों पर हम विचार करेंगे।

तत्त्व किसे कहते हैं ? प्रयोजनभूत तत्त्व कौनसे हैं और कितने हैं ? तत्त्वों के नाम तथा लक्षण के बारे में विस्तृत चर्चा, प्रयोजनभूत तत्त्वोंसंबंधी जीव की अनादि से होनेवाली विपरीत मान्यतायें, सात तत्वों में हेय, ज्ञेय, उपादेय तत्त्व कौनसे हैं? सात तत्त्वों को जानकर उनमें छिपी हुओ आत्मज्योति कैसे पहचाने ? अर्थात् स्व-पर भेदविज्ञान कैसा करें ? क्योंकि हम शास्त्र-स्वाध्याय करते हैं, श्रवण वाचन करते हैं वह शब्दज्ञान करने के लिए नहीं अपितु आत्मज्ञान करने के लिए करते हैं।

अधिक चर्चा फिर करेंगे। उसके पूर्व १४ मई से ३१ मई तक हम देवलाली शिक्षण प्रशिक्षण शिबिर में जा रहे हैं।

तुम्हारी माँ

* *

तथा कितने ही जीव ऐसा मानते हैं कि जानने में क्या है, कुछ करेंगे तो फल लगेगा। ऐसा विचार कर व्रत-तप आदि क्रिया ही के उद्यमी रहते हैं और तत्त्वज्ञान का उपाय नहीं करते। सो तत्त्वज्ञान के बिना महाव्रतादि का आचरण भी मिथ्याचारित्र ही नाम पाता है, और तत्त्वज्ञान होनेपर कुछ भी व्रतादिक नहीं हैं तथापि असंयत सम्यग्दृष्टि नाम पाता है। इसलिए पहले तत्त्वज्ञान का उपाय करना, पश्चात् कषाय घटाने के लिए बाह्य साधन करना।

- पं. टोडरमलजी 'मोक्षमार्गप्रकाशक'

* *

पत्रांक २०　　१० जून १९९५

सात तत्त्वों का स्वरुप (भाग १)

प्रिय रीना एवं मोना,

अनेक उत्तम शुभाशीर्वाद।

जिनेन्द्र कथित तत्त्वों के अभ्यास में तुम्हारी बढ़ती हुअी रुचि को देखकर मुझे आनंद होता है। अरी, ये तत्त्व ही ऐसे व्याययुक्त और तर्कसंगत हैं। उनका क्रमवार अभ्यास करने से वे सहज समझ में आते हैं।

छह द्रव्य, सात तत्त्व, चार अभाव, छह कारक, पांच भाव, निमित्त उपादान आदि प्राथमिक ज्ञान होनेपर शास्त्रों के अर्थ सहज समझ में आते हैं और मर्म समझने से उस विषय में रस बढ़ता है, रुचि बढ़ती है।

छह द्रव्यों के बारे में हम अभ्यास कर चुके हैं। यह विश्व छह द्रव्यों के समूह से बना हुआ है यह हमने देखा। प्रत्येक द्रव्य के सामान्य - विशेष गुणों की भी चर्चा की। प्रत्येक द्रव्य का अस्तित्व भिन्न भिन्न है, प्रत्येक द्रव्य की सत्ता अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव में ही मर्यादित है, द्रव्य उत्पादव्यय-ध्रुवता से युक्त है अर्थात् प्रत्येक समय में नवीन पर्याय का उत्पाद और पूर्व पर्याय का नाश होनेपर भी द्रव्य ध्रुवपने से कायम रहता है ये सब बातें हमने विस्तारपूर्वक देखी हैं।

यह सब पढ़ते समय एक बात का सदा स्मरण रखना है कि मुझे अपने को पहचानना है तो इन छह द्रव्यों में मेरा स्थान कौनसा है ? उत्तर है - मैं एक स्वतंत्र जीवद्रव्य हूँ। मेरा अस्तित्व मेरे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव में है और मैं गुणपर्यायों से युक्त हूँ। ये पर्यायें प्रतिसमय पलटने पर भी मैं ध्रुवरुप से कायम टिका हुआ हूँ। वस्तुस्थिति ऐसी होनेपर भी 'मैं एक जीवद्रव्य + अनंत पुद्गल परमाणु' ऐसे अनेक द्रव्यों की असमानजातीय द्रव्यपर्याय - मनुष्यपर्याय को ही मैंने 'स्व' माना और इसीकारण मेरे सुखी होने के प्रयत्न निष्फल रहे, व्यर्थ साबित हुअे।

द्रव्यों का अभ्यास करने के पश्चात् अब हमें प्रयोजनभूत तत्त्वों का अभ्यास करना है। द्रव्यों के अभ्यास में और तत्त्वों के अभ्यास में अंतर है। फोटो के दृष्टांत से तुम्हें तुरन्त समझ में आयेगा। तुम्हारे शादी के बड़े ग्रुप फोटो याद है ना ? बीस-पच्चीस लोगों के भीड़ में हम खड़े रहते हैं और सब की एक फोटो - ग्रुप फोटो निकाली जाती है उसमें चींटी जितने दिखाई देते हैं। परंतु एक ही व्यक्ति का Close-up होगा, केवल एक तुम्हारा नजदीक से लिया गया फोटो होगा तो उसमें सब सूक्ष्मतासे - नाक, आँखे, गहने, कपड़े सब कुछ स्पष्टरुपसे दिखाई देते हैं। द्रव्यों का अभ्यास ग्रुप फोटो जैसे है और तत्त्वों का अभ्यास Close-up फोटो के

समान है। गत पत्र में हमने प्रयोजन किसे कहते हैं, प्रयोजनभूत का तात्पर्य क्या है, तत्त्व का मतलब क्या होता है ये सारी बातें देखी। जब मेरा प्रयोजन सुखी होने का है, तब वह सुख प्राप्त करने के लिए कुछ बातों का ज्ञान होना अत्यंत आवश्यक है। जिन बातों का ज्ञान हुअे बिना अपना दुःख दूर नहीं होगा और सुख प्राप्त नहीं होगा उन बातों को प्रयोजनभूत तत्त्व कहते हैं।

जीवतत्त्व, अजीबतत्त्व, आस्रवतत्त्व, बंधतत्त्व, संवरतत्त्व, निर्जरातत्त्व और मोक्षतत्त्व ये सात तत्त्व हैं। जीव और अजीव ये द्रव्यतत्त्व हैं और अन्य पांच तत्त्व पर्यायतत्त्व हैं अर्थात् वे जीव और कर्म की अवस्थायें हैं। प्रथम हम सरल और साधारण परिभाषा देखेंगे, बाद में उसका विस्तार करेंगे।

जीवतत्त्व - जिसमें ज्ञान दर्शन, आनंद है वह ज्ञानानंदस्वभावी आत्मा जीवतत्त्व है। अजीव तत्त्व - जिसमें ज्ञानदर्शन आनंद नहीं हैं ऐसे पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल अजीवतत्त्व हैं।

परंतु यह तो जीव और अजीव तत्त्व की सामान्य परिभाषा - आगम भाषा हुअी। तत्त्वों के माध्यम से हमें अपनी स्वयं की पहचान करनी है इसलिए इसी परिभाषा को थोड़ा सुधारकर अध्यात्म भाषा में लिखना पड़ेगा वह इसतरह -

१. **जीवतत्त्व** : जिसमें मेरा ज्ञानदर्शन आनंद हैं वह जीवतत्त्व है।

२. **अजीवतत्त्व** : जिसमें मेरा ज्ञानदर्शन आनंद नहीं हैं ऐसे मेरे अलावा अन्य अनंत जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये सब अजीवतत्त्व में आते हैं। देखो तो सही, अपेक्षा बदलते ही कथन भी बदल गया।

मेरी अपेक्षा से अन्य सब जीव अजीवतत्त्व में सामिल होते हैं। क्या? अरिहंत और सिद्ध भी अजीवतत्त्व? इसे सुनते ही बड़ी खलबली मचती है। यह बात सुनकर मेरे चचेरे भाई अविनाशने कहा था, 'अरी बहन! मुझे तो रातभर निंद नहीं आयी। अरिहंत और सिद्ध अजीवतत्त्व में आते हैं?" एक तत्त्व का स्वरुप सुनकर अगर निंद उड़ जाती हो तो सात तत्त्वों का यथायोग्य अभ्यास करके अनादि की मोहनिद्रा उड़ जायेगी और सम्यक्त्व की प्राप्ति होगी इसमें क्या आश्चर्य है?

३. **आस्रवतत्त्व** : शुभाशुभ विकारी भाव उत्पन्न होना आस्रवतत्त्व है। यह तो हुअी स्थूल परिभाषा। विस्तार से देखा जाये तो मिथ्यात्व, अविरति (अव्रत परिणाम), प्रमाद, कषाय और योग ये जीव के परिणाम आस्रव हैं। इन्हें भाव+ आस्रव = भावास्रव कहते हैं। यह तो जीव की अवस्था है। कर्म की अपेक्षा से देखनेपर उसी समय में 'नवीन कर्मों का आना' इसको द्रव्य + आस्रव = द्रव्यास्रव कहते हैं।

४. **बंधतत्त्व** : इसमें भी भावबंध और द्रव्यबंध ऐसे जीव और कर्म की अपेक्षा से दो भेद हैं। शुभाशुभ विकारी भावों में (मोह रागद्वेष में) अटकना भावबंध है और

नवीन कर्मों का पुराने कर्मों के साथ बंध जाना द्रव्यबंध है। कर्म के आने को आस्रव कहते हैं, कर्म के बंधन को बंध कहते हैं।

५. **संवरतत्त्व :** आस्रव का रुक जाना इसे संवर कहते हैं। आत्मा के अनुभव में लीन रहनेपर याने शुद्धोपयोग में जीव को मोह, राग, द्वेष उत्पन्न नहीं होते इसलिए उसे आस्रव और बंध नहीं होते। आस्रवों के रुकने को ही संवर कहते हैं। भावसंवर अर्थात् शुभाशुभ भावों का उत्पन्न न होना परंतु यह तो नास्ति का कथन हुआ। अस्ति से कथन करना हो तो वीतरागता की याने शुद्धि की उत्पत्ति होना भावसंवर है। द्रव्यसंवर अर्थात् 'नवीन कर्मों का आना रुक जाना'। अभी तो स्थूलरुप से इतना ही याद रखना। उसके विस्तार में जानेपर ज्ञात होगा कि मिथ्यात्व का आस्रव रुकनेपर अन्य आस्रव (अविरति आदि) चालू रहते हैं और वीतरागता की वृद्धि के साथ वे भी रुक जाते हैं।

६. **निर्जरातत्त्व :** शुद्धि की वृद्धि होना इसे भावनिर्जरा कहते हैं। भावनिर्जरा में कषायों का उत्तरोत्तर अभाव और वीतरागता की वृद्धि होती है। कर्मों के बारे में कहना हो तो पूर्व में बंधे हुअे कर्म जीव के वीतराग परिणामों के कारण बहुत भारी मात्रा में खिर जाते हैं, निकल जाते हैं, जीव उन कर्मफलों को नहीं भोगता उसे द्रव्यनिर्जरा कहते हैं। संवर अर्थात् नवीन कर्म नहीं आते और निर्जरा अर्थात् पूर्व में जीव के साथ बंधे हुअे कर्म बड़ी संख्या में निकल जाते हैं - खिर जाते हैं। इसलिए संवर और निर्जरा के कारण जीव से बंधे हुअे कर्म उत्तरोत्तर कम होते जाते हैं।

७. **मोक्षतत्त्व :** पूर्ण वीतरागता, पूर्ण शुद्धि का प्रगट होना - यह है भावमोक्ष और कर्मों का संपूर्ण अभाव होना यह है द्रव्यमोक्ष। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये आस्रव अर्थात् बंध के कारण नष्ट होते हैं और पूर्वबद्ध कर्मों का संपूर्ण अभाव होता है, वही मोक्ष है।

उक्त विवेचन से अब इस बात का ज्ञान हुआ होगा कि आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष जीव की एवं कर्म की अवस्थायें हैं। जीव द्रव्य की बात आती है तब हम पर्यायों सहित अखंड द्रव्य का विचार करते हैं परंतु जब तत्त्वों की बात आती है, तब पर्यायों को स्वतंत्र स्थान देकर उनके स्वरुप का अलग कथन किया जाता है।

स्वतत्त्व याने जीवतत्त्व को एक बाजू में रखते ही विश्व की समस्त बातें परतत्त्व में - अजीवादितत्त्व में आती हैं।

तुम्हें राजा हरिश्चंद्र की कहानी मालूम ही है। एक बार राजा हरिश्चंद्र का नाटक चल रहा था। हरिश्चंद्र पर आयी हुअी आपत्तियों को देखकर सारे प्रेक्षक अश्रु की धारा में डूब गये। उससमय एक स्त्री बड़ी शांति से नाटक के दृश्य देख रही थी। उसकी बाजूवाली स्त्री से रहा नहीं गया, रोते रोते ही उसने उस स्त्री से पूछा, 'कैसी दुष्ट हो तुम ? तुझे कुछ भी दुःख कैसे नहीं हो रहा ?' तब उस स्त्री ने उत्तर

दिया, 'अरी पगली, वह तो मेरा पति है। हरिश्चंद्र का कितना भी अच्छा स्वांग धारण करे - भूमिका के साथ कितना भी तन्मय (समरस) दिखायी दे, फिर भी वह जो है वही है। उसके रुप में, स्वभाव में रंचमात्र अंतर पड़ने वाला नहीं है।'

उसीप्रकार ये सातों तत्त्व भिन्न भिन्न हैं। जीव की ही अवस्थायें होनेपर भी इनसे जीवतत्त्व (स्वतत्त्व) भिन्न तत्त्व है। यह जीव शरीर के संयोग में रहते हुअे भी शरीर से याने अजीवतत्त्व से भिन्न है। यह जीव क्रोधादि रुप प्रत्यक्ष दिखायी देनेपर भी जीवतत्त्व भिन्न है और रागादि भिन्न तत्त्व है।

जैसे, हम मलीन कपड़ा देखते हैं। उस मलीन अवस्था में भी कपड़ा भिन्न है और मैल भिन्न है। दोनों का अस्तित्व भिन्न है, दोनों का लक्षण - स्वरुप भिन्न है और इसीवजह से वे भिन्न हो सकते हैं। T.V. पर साबुन की Advertisement (इश्तहार) में भी यही तो बताते हैं। अंतर इतना है कि उनकी दृष्टि द्रव्यपर (धनपर) है और हमें द्रव्यदृष्टि करना है अर्थात् दृष्टि याने ज्ञान और श्रद्धा द्रव्यपर याने 'स्व' तत्त्वपर केंद्रित करनी है। मिथ्यात्व, राग-द्वेषों से युक्त मलीन अवस्था में भी जीवतत्त्व भिन्न है, त्रिकाल शुद्ध चैतन्यमय एकरुप है और मोहरागद्वेषरुप मलीनता भिन्न है।

कपड़ा मैला होनेपर भी कपड़ा साफहै (स्वच्छ है) ऐसी पूर्ण श्रद्धा होगी तो ही मैल दूर करने का उपाय हो सकता है। उसीप्रकार मिथ्यात्व, कषायों से सहित जीव में भी जीव तो सदा पूर्ण शुद्ध, निर्मल, ध्रुव, चैतन्यमय ही है ऐसी पूर्ण श्रद्धा हुअे बिना मिथ्यात्वरुपी मैल दूर करने का उपाय नहीं हो सकता।

देखो, अब जरा ध्यान से देखना। जीव की अवस्था मलीन है ऐसा ज्ञान होगा और उसीसमय श्रद्धा में जीव का स्वरुप शुद्ध है ऐसी श्रद्धा होगी तो ही मलीन अवस्था नष्ट करने का प्रयत्न हो सकता है। अगर मलीन अवस्था का ज्ञान ही नहीं होगा तो मलीन अवस्था को टालने का उपाय ही क्यों करे? और मलीनता को ही अपना स्वरुप है ऐसी श्रद्धा करेगा तो भी मलीनता हटाने का उपाय कैसे करें?

अवस्थासहित याने पर्यायसहित द्रव्य में पर्याय रहित जो अंश (द्रव्यांश) है उसका विचार कैसे करना इसकी चर्चा हम अगली बार करेंगे।

इन सात तत्त्वों का सूक्ष्मता से अभ्यास करना अति आवश्यक है। क्योंकि संपूर्ण अध्यात्मशास्त्र ही इन तत्त्वोंपर आधारित है, तत्त्वों की भाषा में है। तत्त्वों के संबंध में हमारी मान्यता विपरीत रहेगी तो अध्यात्मशास्त्र पढ़कर भी हमारे पल्ले कोई लाभ नहीं पड़ेगा।

सात तत्त्वोंसंबंधी शेष विवेचन आगामी कई पत्रोंद्वारा देखेंगे।

तुम्हारी माँ

पत्रांक २१ ८ जुलाई १९९५

सात तत्त्वों का स्वरुप (भाग २)

प्रिय रीना एवं मोना,

अनेक उत्तम शुभाशीर्वाद।

सात तत्त्वों का साधारण स्वरुप गत पत्र में हमने देखा है। आज जीव - अजीव इन दो तत्त्वों के संबंध में अधिक जानकारी लेंगे।

मैं स्वयं जीवतत्त्व हूँ, इसलिए मुझे उसका ज्ञान करना ही चाहिए और अजीवतत्त्व को जानना इसलिए जरुरी है कि 'वह मैं नहीं हूँ' इस बात को समझने के लिए। क्योंकि हम अनादि से अजीव को जीव मानते आ रहे हैं अथवा जीव और अजीव दोनों को एक मान रहे हैं। यह जीवतत्त्व क्या है इसे प्रथम देखेंगे।

छहढ़ाला में पं. दौलतरामजी लिखते हैं, "चेतन को है उपयोग रुप, बिनमूरत चिनमूरत अनूप"। समयसार ग्रंथ में आचार्य कुंदकुंद कहते हैं, "अहमेक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइओ सदारुवी" अर्थात् "मैं एक, शुद्ध, सदा अरुपी ज्ञानदर्शनमय हूँ, अन्य कुछ भी - परमाणुमात्र भी मेरा नहीं है।" समयसार नाटक में पं. बनारसीदासजी कहते हैं, "चेतनरुप अनूप अमूरत, सिद्ध समान सदा पद मेरो।" तत्त्वार्थसूत्र नामक ग्रंथ में आचार्य उमास्वामी ने "उपयोगो लक्षणम्" ऐसा जीव का स्वरुप बताया हैं। मोक्षमार्गप्रकाशक में पं. टोडरमलजी लिखते हैं, "अमूर्तिक प्रदेशों का पुंज, प्रसिद्ध ज्ञानादि गुणों का धारी, अनादिनिधन वस्तु आप है और मूर्तिक पुद्गल द्रव्यों का पिंड, प्रसिद्ध ज्ञानादिकों से रहित, जिनका नवीन संयोग हुआ है ऐसे शरीरादिक पुद्गल पर हैं।" आत्मसिद्धि शास्त्र में श्रीमद् राजचंद्र कहते हैं, "शुद्ध बुद्ध चैतन्य घन स्वयं ज्योति सुख धाम।"

ये सब कथन विभिन्न होने पर भी सभी का अर्थ एक ही है। जीवतत्त्व का ही यह वर्णन है। सर्वज्ञ भगवान ने जाना हुआ और बताया हुआ जीव का स्वरुप संतों ने स्वयं अनुभव में जाना और बाद में शास्त्रों में बताया। हमें भी ऐसा स्वयं का अनुभव करना है।

यहाँ पर अब हम पहले जीवद्रव्य का विचार करेंगे। द्रव्य गुणपर्यायों से युक्त होता है इस बात को हम जानते ही हैं। प्रत्येक समय में कोई ना कोई पर्याय विद्यमान रहती ही है इसका तात्पर्य यह है कि द्रव्य पर्यायों से युक्त ही होता है, पर्यायों से भिन्न नहीं हो सकता। पर्याय रुप से प्रतिसमय बदलने पर भी, द्रव्यरुप से नित्य वैसा ही और वही है। प्रत्येक द्रव्य - प्रत्येक वस्तु हमें दो अंशों में दिखायी देती है। एक नित्य कायम रहनेवाला ध्रुव अंश और एक सदा नया उत्पन्न और विनाश होनेवाला पर्याय अंश। इस नित्य अंश को, हम द्रव्यांश और अनित्य अंश

को पर्यायांश कहेंगे। द्रव्यांश याने नित्य अंश, नित्य होने से अनादिकाल से अनंतकाल तक है उस रुप में कायम रहनेवाला है उसमें कुछ भी बदल या वधघट नहीं हो सकती। वही का वही - एकरुप ऐसा जो यह द्रव्यांश है उसे ही त्रिकाली, ध्रुव, परमपारिणामिक एक शुद्ध भाव कहते हैं।

अपेक्षा	वस्तु	द्रव्यांश	पर्यायांश
(द्रव्य)	सामान्यविशेषात्मक	सामान्य	विशेष
(क्षेत्र)	भेदाभेदात्मक	अभेद	भेद
(काल)	नित्यानित्यात्मक	नित्य	अनित्य
(भाव)	एकानेकात्मक	एक	अनेक

उक्त कोष्टक (Table) से यह बात ध्यान में आती है कि वस्तु का यह द्रव्यांश सामान्य, अभेद, नित्य और एक है; सदा वैसे का वैसा कायम रहनेवाला है, परिपूर्ण है। उसमें पूर्णता कहीं बाहर से नवीन लाने की जरुरत नहीं है वह सदा ही पूर्ण है। वस्तु का पर्यायांश विशेष, भेदरुप, अनित्य एवं अनेकरुप है। समयमात्र में बदलनेवाला है। द्रव्यांश की अपेक्षा से देखा जाये तो सभी जीव समान ही हैं और पर्यायांश की अपेक्षा से देखनेपर अनेक भेद दिखायी देते हैं। जैसे संसारी और मुक्त शरीर और कर्मों के संयोग की अपेक्षा से, अल्पज्ञ और सर्वज्ञ यह भेद ज्ञान की पर्याय के कारण पड़ता है, श्रावक-मुनि ऐसा भेद चारित्र गुण की विशिष्ट पर्याय के कारण पड़ता है, एकेंद्रिय द्वींद्रिय आदि भेद शरीर का संयोग एवं ज्ञान का उघाड़ के कारण होते हैं। पर्यायांश की तरफ दृष्टि देनेपर ये सब भेद विद्यमान हैं। वह सत्य परिस्थिति है फिर भी पर्यायांश की तरफ की आँख बंद करने से, दृष्टि में उस अंश को गौण करके केवल द्रव्यांश की तरफ देखनेपर यह द्रव्यांश - ध्रुवांश - सदा है उस रुप - ज्ञानदर्शनमय है। प्रत्येक जीव का यह द्रव्यांश समान है। जैसा सिद्ध भगवान का वैसा निगोद के जीव का है। जैसा अनादिकाल पहले था वैसा ही आज भी है।

यह जो ध्रुव, नित्य, ज्ञानमय द्रव्यांश है वही जीवतत्त्व है। हमारा प्रयोजन स्व - तत्त्व से है इसलिए 'यह मैं ज्ञानमय नित्य ध्रुव' ऐसा स्वतत्त्व याने मैं अर्थात् जीवतत्त्व हूँ - इसतरह स्वयं की पहचान हमें करनी है। जीवद्रव्य और जीवतत्त्व में जो अंतर है वह अब स्पष्ट हो गया होगा। द्रव्य कहते ही 'उत्पादव्ययध्रौव्य युक्तं सत्।, सत् द्रव्यलक्षणम्।' यह बात ध्यान में आती है। इसमें उत्पाद - व्यय यह पर्यायांश है और ध्रौव्य याने ध्रुवता यह द्रव्यांश है। जीवतत्त्व कहते ही शुद्ध-अशुद्ध पर्यायों से भिन्न त्रिकाली शुद्ध स्वरुप अर्थात् उत्पादव्यय को गौण करके मात्र ध्रुव तत्त्व - परमपारिणामिक भाव ऐसा अर्थ होता है। पर्याय को कभी भी द्रव्य से हटा नहीं सकते, भिन्न नहीं कर सकते। फिर भी यह सारा प्रयत्न - प्रयोग अपने ज्ञान में ही - श्रद्धा में ही करना है।

जिसप्रकार सोने के अनेक गहने - कंगन, हार, अंगूठी, कमरपट्टा आदि विविध अवस्थायें होते हुअे भी जब हम मात्र 'सोना' की दृष्टि से देखते हैं तब ये अवस्थायें हमारी नजर में गौण होकर सोना कितना है इसे हम देखते हैं। अथवा जिसप्रकार, अमेरिकन, भारतीय, जापानी, आफ्रिकन आदि विभिन्न वंशीय मनुष्यों में शरीर की रचना, रंग, लंबाई, केश इनमें अनेक भेद होनेपर भी मनुष्यत्व की अपेक्षा से सब समान ही हैं - सब मानव ही हैं। उसीप्रकार पर्यायों की अपेक्षा से जीवों के विभिन्न भेद दिखायी देनेपर भी जीवतत्त्व की अपेक्षा से - ध्रुव द्रव्यांश की अपेक्षा से सब जीव समान ही हैं। इसीवजह से 'मम स्वरुप है सिद्ध समान' ऐसा कहते हैं। अगर कोई व्यक्ति पर्यायांश में स्वयं को सिद्ध समान मानता होगा तो उसकी मान्यता मिथ्या होगी।

सिद्ध भगवंतों में जैसा द्रव्यांश है - जैसा परिपूर्ण सामर्थ्य है वैसा पर्याय में पूर्णतः प्रगट हुआ है। जैसा द्रव्यांश है वैसी ही प्रगट अवस्था है। वह प्रगट अवस्था जानकर सिद्धों का द्रव्यांश भी उसीतरह है यह बात ध्यान में आती है और मेरा भी द्रव्यांश सिद्धों के द्रव्यांश तथा पर्यायांश के समान है इस बात का ज्ञान होता है। गणित विषय में तुमने पढ़ा था कि $A = B, B = C \therefore A = C$

इसीलिए जिनेंद्र भगवान का दर्शन करना अत्यंत महत्व का है। हमें जिनदर्शन से निजदर्शन साध्य करना है। जिनेंद्र के प्रगट पर्यायांश द्वारा उनके द्रव्यांश का ज्ञान होता है और उनके द्रव्यांश के समान ही मैं स्वयं हूँ इसका ज्ञान होकर दृष्टि स्व सन्मुख होती है। इसीलिए तो प्रवचनसार ग्रंथ में आचार्य कुंदकुंद ने कहा है, "जो अरहंत को द्रव्यपने, गुणपने एवं पर्यायपने से जानता है, उसका मोह (मिथ्यात्व) नष्ट होता है।"

"पर्यायों से भिन्न द्रव्यांश वह मैं हूँ और वही जीवतत्त्व है" यह सूत्र ज्ञान में आते ही सात तत्त्वों में से आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन पर्यायों से मैं जीवतत्त्व - ध्रुव द्रव्यांश भिन्न हूँ यह समझना अब कठिन नहीं होगा। पर्यायों में आस्रव बंध के होते हुअे भी उनसे भिन्न मैं नित्य, त्रिकाली ध्रुव अंश हूँ यह बात समझते अब देर नहीं लगेगी। अपनी ही पर्यायों से अपने द्रव्यांश को हम भिन्न देख रहे हैं तो परद्रव्यों का सवाल ही कहाँ उठता है? परद्रव्यों से संबंध रहेगा ही कैसे? इसीलिए अजीवतत्त्व जो परद्रव्य हैं उनसे जीवतत्त्व भिन्न है यह बात समझना अब आसान है। द्रव्यांश को याने जीवतत्त्व को देखने के लिए पर्यायों को निकाल बाहर नहीं करना है उनका नामनिशान भी नहीं मिटाना है - वैसा करना भी तो संभव नहीं है। मात्र अपनी नजर पर्यायों पर से हटाकर, कायम रहनेवाले ध्रुव अंशपर स्थिर करनी है, उसका आश्रय लेना है। उसीमें 'मैं' पना स्थापित होते ही उपयोग अपनेआप उसकी ओर मुड़ जाता है।

सायन में हमारे घर के सामने मेनरोड होने से एक साथ दस-दस लेन में कारें और ट्रक चलती हैं और ट्रॅफिक की आवाज निरंतर कानों पर आती है। फिर भी अपनी कार का हॉर्न तुम कैसे झट् पहचानती हो। क्योंकि उसमें अपनेपना का भाव है।

जीवतत्त्व यह दृष्टि का विषय है। निशानेबाजी करते समय दृष्टि केवल निशानेपर स्थिर - केंद्रित की जाती है। उससमय अन्य सब चीजों का सद्भाव है मगर वे नजर में नहीं आती क्योंकि नजर मात्र एक ही बिंदुपर केंद्रित की जाती है। उसीप्रकार पर्यायों में अनित्यता, अनेकता, अपूर्णता, मलीनता होनेपर भी दृष्टि में उन सब को गौण करके मात्र ध्रुव नित्य अंशपर दृष्टि को स्थिर करने से 'यही मैं' ऐसा 'स्व' पना स्थापित होनेपर जीवतत्त्व याने स्वतत्त्व भिन्न अनुभव में आ सकता है।

तुम कहोगी, 'इतना ही करना है तो अजीवतत्त्व को जाने ही क्यों?' क्योंकि हमें अजीवतत्त्व में अहंबुद्धि, 'मैं' पना, एकत्व हो सकता है। परजीव और अन्य परद्रव्य सभी अजीवतत्त्व हैं क्योंकि श्रद्धा में उन्हें स्थान नहीं है। उसके लिए सभी अजीव द्रव्यों को एवं अन्य जीवों को जानते रहने की जरुरत नहीं है अपितु ये सब अजीवतत्त्व हैं ऐसा जानकर 'अजीवतत्त्व मैं नहीं हूँ' ऐसा ज्ञान करना है। मुख्यरुप से शरीर से भिन्न जानना है क्योंकि हमारी एकत्व बुद्धि हिमालय पर्वत से नहीं होती, विश्व के अन्य अनंत पदार्थों से नहीं होती परंतु प्राप्त शरीर से और संयोगों से होती है।

हम केवल शरीर के साथ एकत्व करके रुकते नहीं है तो क्रोधादि कषायों से भी एकत्व, ममत्व स्थापित करते हैं। मैं बहुत दयावान हूँ, फलाना व्यक्ति क्रोधी है, फलाना व्यक्ति मायाचारी है इसतरह राग परिणामों के साथ याने आस्रव के साथ हम एकत्व स्थापित करके उसे अपना स्वभाव मानते हैं। इसीलिए सात तत्त्वों में इन पर्याय तत्त्वों को भिन्न बताया है। इन सात तत्त्वों का स्वरुप देखकर हम आज तक उन तत्त्वों के बारे में क्या क्या भ्रांत कल्पनायें - विपरीत मान्यतायें करते आये हैं इस बात को हम आगामी पत्रों द्वारा देखेंगे। इन तत्त्वों में हेय, ज्ञेय, उपादेय तत्त्व क्या है इस बात को भी हमें समझना है।

इन सात तत्त्वों में ही पुण्य और पाप ये पदार्थ समाविष्ट हैं। आस्रव में पुण्यास्रव और पापास्त्रव तथा बंध में पुण्यबंध और पापबंध इनका अंतर्भाव (समावेश) होता है। जिनागम में कहीं कहीं पुण्य और पाप को अलग बताकर सात तत्त्वों की जगह नौ पदार्थ ऐसा भी कथन आता है। सातत्तत्त्व कहो अथवा नौ पदार्थ कहो दोनों का स्वरुप एक ही है। समझाने के लिए भिन्न कथन हैं।

शेष वर्णन आगामी पत्रों में करूँगी।

तुम्हारी माँ

पत्रांक २२ १५ सितम्बर१९९५

सात तत्त्वसंबंधी विपरीत मान्यता (भाग १)

प्रिय रीना एवं मोना,

अनेक उत्तम शुभाशीर्वाद।

गत अनेक पत्रोंद्वारा हमने सात तत्त्वसंबंधी मामुली पहचान करा ली है। जिनेन्द्र भगवान के बताये हुअे ये तत्त्व जानकर, उनका यथायोग्य श्रद्धान करके, पश्चात् स्वतत्त्व की पहचान एवं अनुभूति हुअे बिना सम्यग्दर्शन नहीं होगा और उसके बिना सच्चे सुख की शुरुवात ही नहीं होगी। सच्चे देव-गुरु-शास्त्रों के अलावा अन्यत्र कहीं भी यह सत्य उपदेश प्राप्त नहीं हो सकता। कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्रों द्वारा जीव मिथ्या उपदेश ग्रहण करता है और गृहित मिथ्यात्वी बनता है। इन कुदेवादि को और मिथ्या उपदेश को छोड़कर जब इस जीव को सत्य उपदेश प्राप्त होगा तभी इस जीव को अतत्त्वश्रद्धान अर्थात् मोह (मिथ्यात्व) नष्ट हो सकता है। सात तत्त्वसंबंधी विपरीत मान्यता ही मिथ्यात्व है।

सात तत्त्वों की भूल अर्थात् सात तत्त्वसंबंधी जीव की भूल ऐसा अर्थ है। क्योंकि तत्त्व तो जैसे हैं वैसे कायम रहते हैं परंतु जीव उनके संबंध की मान्यता में भूल करता है। सात तत्त्व यह वस्तुस्थिति है। इस वस्तुस्थिति को छोड़कर अन्य सभी मान्यतायें कल्पनाजन्य भ्रांतियाँ हैं। अज्ञानी की मान्यता के अनुसार विश्व में द्रव्यों का परिणमन नहीं होता इसलिए वह दुःखी है और इस दुःख को मिटाने के लिए कल्पनाजन्य भ्रांतियाँ दूर करना यही एकमेव उपाय है।

इन सात तत्त्वसंबंधी 'विपरीत मान्यता' का अर्थ होता है तत्त्व जैसे हैं वैसा न मानकर अन्यथा मानना। प्रत्येक जीव अनादि से ही ऐसी मिथ्या मान्यता करते आया है इसलिए सात तत्त्वों से वह भले ही परिचित न हो मगर तत्संबंधी विपरीत मान्यताओं से चिरपरिचित है। शायद इसीलिए पं. दौलतरामजी ने 'छहढाला' में और पं. टोडरमलजी ने 'मोक्षमार्गप्रकाशक' में प्रथम इन विपरीत मान्यताओं का वर्णन किया है और उसके पश्चात् उन तत्त्वों का स्वरुप बताया है। ठीक ही तो है, किसी जन्म से ही रोगी व्यक्ति को उसके रोग के लक्षण, जो कि उसके नित्य परिचय में है, बताकर उसके बाद निरोगी अवस्था का वर्णन और निरोगी होने का उपाय बताया जाये तो उसको विश्वास होता है और वह उपाय भी करता है।

जीव-अजीव तत्त्वसंबंधी विपरीत मान्यता

इन दोनों तत्त्वसंबंधी विपरीत मान्यता एकसाथ बताने का हेतु यह है कि मिथ्यादृष्टि जीव -

१. दोनों को - जीव और अजीव को - एक मानता है, अथवा

२. अजीव को जीव मानता है, अथवा

३. जीव को अजीव मानता है।

अर्थात् शरीर और आत्मा इन दोनों को मिलाकर जीव मानता है, अथवा शरीर को ही जीव मानता है अथवा आत्मा को शरीर मानता है। तात्पर्य यह है कि इन दोनों का भिन्न स्वरुप उसके ज्ञान में नहीं आता।

मान लो, किसी बालक को बज़ार से नीम्बू लाने के लिए कहा हो और वह ककड़ी लेकर आ गया तो उसका अर्थ यही होगा कि वह बालक नीम्बू को भी नहीं जानता और ककड़ी को भी नहीं जानता।

जीवतत्त्व का वर्णन छहढ़ाला में "चेतन को है उपयोगरुप" अर्थात् 'जीव का लक्षण ज्ञानदर्शन है' ऐसा किया है। उससे तात्पर्य यह निकलता है कि 'मेरो है उपयोगरुप', 'तुम्हारा है उपयोगरुप', 'निगोद का है उपयोग रुप', 'सिद्धों का है उपयोगरुप', 'सब जीवों का है उपयोग रुप'। परंतु जीव ने ज्ञानदर्शन को अपना रुप न मानकर प्राप्त शरीर को ही अपना रुप मान लिया है। देखो तो, प्रातः उठते ही हम दर्पण के सामने खड़े होकर अपना (?) रुप निहारते हैं, शरीर का फोटो देखकर यह मेरा फोटो मानकर खुष होते हैं, शरीर सुंदर होगा तो मैं सुंदर हूँ मानकर गर्व करते हैं, शरीर रोगी होगा तो मैं रोगी मानकर दुःखी होते हैं, नया शरीर प्राप्त होनेपर मैं जन्मा और शरीर के छूटनेपर मैं मरा ऐसा मानते हैं। जरा ठंडे दिमाग से विचार करना, अपनी मान्यतायें ऐसी ही हैं या नहीं? कहा ही है, "तन उपजत अपनी उपज जान, तन नशत आप को नाश मान।" यहाँ तो केवल जब्म और मरण की ही बात कही है परंतु इन दो अवस्थाओं के बीच की सभी अवस्थायें समझ लेना, उन सभी अवस्थाओं को हम अपनी अवस्थायें मानते आये हैं। जैसे, तन गोरा होगा तो मैं गोरा, तन लम्बा होगा तो मैं लम्बा, तन बढ़ रहा है तो मैं बढ़ रहा हूँ, तन कुरुप होगा तो मैं कुरुप, तन लूला-लंगड़ा होगा तो मैं लूला-लंगड़ा हूँ आदि मानता है।

केवल शरीर से एकत्व करके यह जीव रुकता नहीं है। धनसंपत्ति, बालबच्चे, कुटुंब, बंगला, गाड़ी आदि अत्यंत भिन्न परपदार्थ कि जो सब अजीवतत्त्व है, उसमें एकत्व करता है और इनके होने से मैं सुखी, मैं दुःखी, मैं गरीब, मैं श्रीमंत, मैं बालबच्चेवाला, मैं निराधार, मैं हीन दीन आदि कल्पनायें करता है। दैनंदिन जीवन में ऐसी कल्पनाओं के कारण लोग दुःखी होते दिखायी देते हैं। कोई शादी नहीं होती इसलिए दुःखी है तो कोई बच्चा नहीं हो रहा इसलिए अपने आप को अधूरा मान कर दुःखी है अथवा वैधव्य आनेपर अपने आप को हीन दीन मानकर कोई दुःखी है।

शरीर ही मैं हूँ ऐसी मूल में ही भूल होने से उसपर आधारित सभी मान्यताओं गलत ही होंगी इसमें क्या आश्चर्य?

अनादिकाल से यह जीव अनेक गतियों में घूम रहा है। एक मैं स्वयं याने आत्मा, और अनंत पुद्गल परमाणु (शरीर) इनका संयोग वियोग होना ही अन्य अन्य नवीन गतियों में भ्रमण करना है। मिथ्यात्व के कारण जीव किसप्रकार मान्यता करता है उसे देखेंगे। मोक्षमार्गप्रकाशक में निम्न वर्णन आता है। -

१. **'यह मैं हूँ'** - ऐसी आत्मबुद्धि -

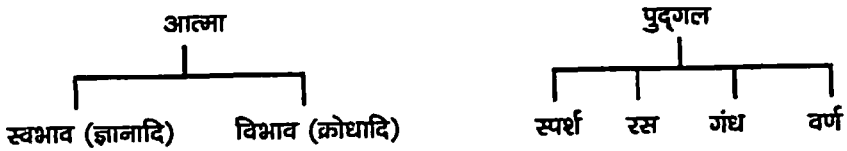

आत्मा का स्वभाव ज्ञानादि और विभाव क्रोधादि तथा पुद्गल के स्पर्शादि इन सबको मिलाकर यह मैं ऐसा अपना स्वरुप मानता है। अर्थात् शरीर मैं हूँ और ज्ञान तथा क्रोध करनेवाला मैं हूँ ऐसा स्वयं को मानता है (एकत्वबुद्धि)।

२. **'ये मेरे हैं'** - ऐसी स्वामित्वबुद्धि।

आत्मा की और पुद्गल की अवस्थायें मिलाकर ये सब मेरी अवस्थायें हैं ऐसा यह मानता है। अर्थात् ज्ञान की और क्रोधादि की हीनाधिक दशा और पुद्गल के वर्ण गुण की अवस्था, स्पर्श गुण की अवस्था, अन्य गुणों की अवस्था आदि सब को अपनी स्वयं की अवस्था मानता है (ममत्वबुद्धि)।

३. **'मैं इनका कर्ता हूँ'** -

जीव और शरीर इनका निमित्त नैमित्तिक संबंध बहुत है। उसकारण कभी कभी जीव इच्छा करता है तब शरीर की क्रिया शरीर के कारण शरीर में होती है परंतु जीव ऐसा मानता है कि ये मेरी क्रिया है। जैसे - मैं बोलता हूँ, मैं चलता हूँ (कर्तृत्वबुद्धि)।

४. **'मैं इनका भोक्ता हूँ'**

शरीर में ठंडी (शीत), बुखार (उष्ण), भूख, प्यास, रोग आदि अवस्थायें होती हैं। मोह (मिथ्यात्व) के कारण यह जीव स्वयं ही उसमें सुख-दुःख मानता है। इन सब अवस्थाओं को अपनी अवस्था मानकर मुझे बुखार आया इसलिए मैं दुःखी हूँ ऐसा मानता है (भोक्तृत्वबुद्धि)।

इसतरह यह जीव जो जो पर्याय (मनुष्य पर्याय, देव पर्याय आदि) धारण करता है, उस उस पर्याय में अहंबुद्धि करता है। इसका कारण क्या है इसके बारे में पं. टोडरमलजी लिखते हैं, "इस आत्मा को अनादि से इंद्रियज्ञान है; उससे स्वयं अमूर्तिक है वह तो भासित नहीं होता, परंतु शरीर मूर्तिक है वही भासित होता है।

और आत्मा किसी को आपरुप जानकर अहंबुद्धि धारण करे ही करे, सो जब स्वयं पृथक् भासित नहीं हुआ तब उनके समुदायरुप पर्याय में ही अहंबुद्धि धारण करता है।

तथा अपने को और शरीर को निमित्त नैमित्तिक संबंध बहुत हैं इसलिए भिन्नता भासित नहीं होती। और जिस विचार द्वारा भिन्नता भासित होती है वह मिथ्यादर्शन के जोर से हो नहीं सकता; इसलिए पर्याय में ही अहंबुद्धि पायी जाती है।"

इसप्रकार जीव-अजीव तत्त्वसंबंधी विपरीत मान्यता का स्वरुप देखने के बाद अब आस्रवतत्त्वसंबंधी विपरीत मान्यता (अयथार्थ श्रद्धान) का स्वरुप देखेंगे।

आस्रवतत्त्वसंबंधी विपरीत मान्यता

गत पत्र में हमने आस्रव का अर्थ क्या है उसे समझा था। मोह, राग, द्वेष अर्थात् मिथ्यात्व और कषाय आस्रव हैं - विभाव हैं। स्वभाव के विरुद्ध भाव को विभाव कहते हैं। जैसे पानी का स्वभाव शीतलता है और उष्णता यह पानी का विभाव है। पर निमित्त से होता है वह विभाव है और निमित्त के बिना जो होता है वह स्वभाव है। ज्ञान, आनंद आत्मा का स्वभाव है। मोह, राग, द्वेष आत्मा का विभाव है। ऐसा होनेपर भी मिथ्यादृष्टि जीव इन विभावों को अपना स्वभाव मानता है। आस्रव दुःखरुप हैं, मिथ्यादृष्टि जीव उन्हें सुखरुप मानता है। राग- चाहे शुभ हो या अशुभ, वर्तमान में आकुलता उत्पन्न करते हैं तथा उनसे बंध होता है इसकारण भविष्य में भी दुःख ही देते हैं।

कहा ही है, 'आस्रव दुःखकार घने रे, बुधिवंत तिन्हें निरवेरे'।

दुःख का कारण मोह, राग, द्वेष हैं, परंतु अज्ञानी संयोग को, परपदार्थों को दुःख का कारण मानकर यह रागद्वेष की श्रृंखला चालू ही रखता है। आस्रव तत्त्वसंबंधी भूल संक्षेप में फिर से देखेंगे।

१. राग, द्वेष, मोह (आस्रव) ये विभाव हैं उनको अपना स्वभाव मानता है।

२. रागादि और आत्मा भिन्न हैं परंतु राग-द्वेष और ज्ञान इनमें एकत्व मानता है।

३. रागादि (आस्रव) दुःखरुप, बंध का कारण एवं भविष्य काल में भी दुःख के हेतु हैं, परंतु उन्हें सुखरुप मानता है।

४. संयोग से मुझे दुःख होता है, प्रतिकूलता मुझे क्रोध उत्पन्न कराती है ऐसा मानता है। परंतु दुःख का कारण आस्रव है इस बात को जानता नहीं।

स्वाभाविक ही है, राग-द्वेष अपने लगते हैं तो उन्हें बुरा कैसा कह सकता है ? मिथ्यादृष्टि शुभराग को सुखकर मानता है, भला मानता है। उससे स्वर्गादिक सुख मिलेगा इसलिए शुभराग उसे अच्छा लगता है। परंतु बंध का कारण सुखकर कैसे हो सकता है ? इस विपरीत मान्यता का वर्णन छहढाला में इसतरह किया है, "रागादि प्रगट ये दुःखदेन तिनही को सेवत गिनत चैन।"

बंधतत्त्वसंबंधी विपरीत मान्यता

"शुभ अशुभ बंध के फल मँझार, रति अरति करे निजपद विसार" (छहढाला)। जीव को जो अनुकूल संयोग मिलते हैं वे पुण्यकर्म के उदय से और प्रतिकूल संयोग मिलते हैं वे पापकर्म के उदय से मिलते हैं। जो जीव कर्म के उदय में सुख मानता है वह पुण्यबंध को अच्छा मानता है। जिसे पुण्य के फल की रुचि है उसे पुण्य का बंध भी अच्छा ही लगता है और जिसे बंधन में सुख लगता है उसकी मान्यता विपरीत है यह बताने की आवश्यकता ही नहीं है।

संयोग तो पर पदार्थ हैं, उनमें इष्ट अनिष्टपना की कल्पना करना यही मिथ्यात्व है।

आस्रवों से कर्म का बंध होता है। यह कर्म उदय में आनेपर उसके फलस्वरुप आत्मा में ज्ञान, दर्शन, वीर्य की हीनाधिकता होती है, मोह, राग, द्वेष रुप परिणमन होता है, बाह्य में सुख दुःख के संयोग तथा विशिष्ट प्रकार के शरीर का संयोग मिलता है। इन सब का मूल कारण कर्म है। परंतु वह तो सूक्ष्म है, दिखता नहीं है। यह जीव इन संयोगों का कर्ता आप है अथवा ईश्वर है अथवा भवितव्य ऐसा ही है ऐसा मानकर बंधतत्त्वसंबंधी भूल करता है, विपरीत मान्यता करता है।

देखो ना, जिसकी एक तत्त्वसंबंधी मान्यता विपरीत होती है उसकी सातों तत्त्व संबंधी मान्यता विपरीत हो जाती है।

संवर, निर्जरा और मोक्षतत्त्व संबंधी विपरीत मान्यता के बारे में हम आगामी पत्र में चर्चा करेंगे।

तुम्हारी माँ

✡ ✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡ ✡

✡ बारम्बार कहने से पुनरुक्ति का दोष लगता है तथापि हे जीव तू ✡
✡ मोहनिद्रा में सो रहा है सो क्यों जागता नहीं? आत्मभाव से विपरीत राग- ✡
✡ द्वेष विभाव को ग्रहण कर रहा है और पदपद पर पंचेंद्रिय के विषयभोगों ✡
✡ के सुख में मग्न हो रहा है और उसकारण अनेक प्रकार के दुःखों को तू ✡
✡ प्राप्त हो रहा है और तेरे आठ कर्मों का नाश नहीं हो रहा है। आत्मा के ✡
✡ स्वभावरुपी महापदार्थ से भ्रष्ट होकर इस संसार में तू भ्रमण कर रहा है। ✡
✡ हे जगत्वासी जीव! तू पंचेंद्रियों के विषयसुख से उदासीन होकर जागृत ✡
✡ बन और शुद्धात्मा के अनुभव में लीन हो जा कि जिससे पुनश्च तुझे इस ✡
✡ संसार में आना नहीं पड़े। ✡
✡ श्री. द्यानतरायजी - 'द्यानतविलास' ✡

✡ ✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡ ✡

पत्रांक २३ २३ अक्तूबर १९९५

सात तत्त्वसंबंधी विपरीत मान्यता (भाग २)

प्रिय रीना एवं मोना,

अनेक उत्तम शुभाशीर्वाद।

'अपने को पहचानकर अपने को सुखी बनना है' यही हमारा ध्येय है। सच देखा जाय तो 'मैं ज्ञान और आनंद स्वभाव से परिपूर्ण हूँ' ऐसा जानना है। क्योंकि सुख बाहर से प्राप्त नहीं करना, अपितु सुखमय 'स्व' को जानते ही सुख की अनुभूति होनेवाली है। आज तक झूठी कल्पना करके कल्पना में ही हम सुखदुःख मानते आ रहे हैं। वह झूठी कल्पना अर्थात् विपरीत मान्यता किसप्रकार है इस बात को हमने गत पत्र में देखना प्रारंभ किया है।

जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये प्रयोजनभूत सात तत्त्व हैं। इन तत्त्वों का यथार्थ याने सत्य श्रद्धान करने से अपना दुःख दूर होकर सच्चे शाश्वत सुख की प्राप्ति होती है। परंतु अनादि से इस जीव ने इन सात तत्त्वसंबंधी विपरीत मान्यता की है।

संवरतत्त्वसंबंधी विपरीत मान्यता

आस्रवों का अभाव ही संवर है। अर्थात् मोह, राग, द्वेष का उत्पन्न न होना संवर है अथवा कर्मों का आना रुकना संवर है। यह तो नास्ति का कथन हुआ। अस्ति का कथन करना हो तो शुद्धता अर्थात् वीतरागता का उत्पन्न होना संवर है। उससमय अतींद्रिय ज्ञान और अतींद्रिय आनंद की प्राप्ति होती है। इसका अर्थ यह हुआ कि संवर में आत्मिक सुख का संवेदन होता है क्योंकि अतींद्रिय ज्ञान और अतींद्रिय आनंद इनका अविनाभावी संबंध है।

अंतर्मग्न - आत्मा में लीन रहनेवाले भावलिंगी संत आत्मा के प्रचुर आनंद में मग्न रहते हैं। परंतु अगर कोई ऐसा मानता होगा कि 'अरेरे! बिना कपड़े के सर्दी में, धूप में, बरसात में कितना कष्ट सह रहे हैं बेचारे!' तो वह उसकी संवरतत्त्वसंबंधी विपरीत मान्यता है।

जो संवर को कष्टदायक, क्लेशकारक मानता होगा वह संवर प्रगट करेगा ही कैसे? आस्रव को जिसने हितरुप माना वह आस्रव के अभाव को अर्थात् संवरतत्त्व को हितरुप नहीं मानेगा और आस्रव का अभाव भी नहीं करेगा। संवरसंबंधी और एक बड़ी भारी भूल देखने में आती है कि आस्रव करने से संवर होता है ऐसा मानना। शुभराग आस्रव है। व्रत, तप शुभराग है। महाव्रत (मुनि के व्रत) भी

शुभराग है। परंतु उसे ही यदि संवर अथवा संवर का कारण माना जाय तो योग्य नहीं होगा। जिस कारण से आस्रव और बंध होता है उसी कारण से संवर होना मानना सर्वथा गलत है।

शुद्धोपयोग याने आत्मलीनता यही संवर प्रगट करने का अर्थात् आस्रवों को रोकने का एकमात्र उपाय है। परंतु आज तक इस जीव को संवर का स्वरुप पता नहीं होने से और संवर आनंदमय होता है इसका अनुभव न होने से यह मिथ्यादृष्टि जीव संवर को कष्टदायक मानता है अथवा आस्रव (शुभराग) करने से संवर होता है, ऐसा मानता है।

निर्जरातत्त्वसंबंधी विपरीत मान्यता

"इच्छा निरोधः तपः" और "तपसा निर्जरा च" ऐसा तत्त्वार्थसूत्र में बताया है। तात्पर्य यह हुआ कि इच्छाओं का निरोध याने इच्छाओं का अभाव याने इच्छा का उत्पन्न ही न होना निर्जरा है और वह सुखमय है।

इच्छा का उत्पन्न होना यही दुःख है, आकुलता है। जब जीव परपदार्थों को इष्ट-अनिष्ट मानता है तब उनके ग्रहण-त्याग की इच्छा करता है। परंतु पर पदार्थ तो इष्ट या अनिष्ट होते ही नहीं, परंतु मिथ्यात्व के कारण यह जीव उन्हें इष्ट-अनिष्ट मानता है। परपदार्थ इसके आधीन परिणमित नहीं होते क्योंकि वे स्वतंत्र वस्तु हैं। कदाचित् इसकी कोई इच्छा पूर्ण हो भी गयी तो भी निरंतर नवीन इच्छायें होती ही रहती हैं और यह जीव निरंतर आकुलता का वेदन करता रहता है।

पांच प्रकारके इंद्रियों के विषयों की इच्छा - मूल कारण मिथ्यात्व।

चार प्रकार की कषायें - क्रोध, मान, माया, लोभ - मूल कारण मिथ्यात्व।

बाह्य सामग्री में इष्ट अनिष्टपना की कल्पना - मूल कारण मिथ्यात्व।

मूल कारण मिथ्यात्व कायम होगा तो उसका कार्यरुप फल - इच्छा, कषाय और इष्ट-अनिष्टपना होगा ही। मन की इच्छा और कषाय बाह्य में प्रगट न हो, उसे दबाकर रखे यह उनके नाश का उपाय नहीं है। अपितु इच्छा और कषायें उत्पन्न ही न हो ऐसा उपाय करना ही सच्चा उपाय है। मूल कारण मिथ्यात्व को नष्ट करना यही वह सच्चा उपाय है।

कर्म की अपेक्षा कथन करना होगा तो बंध का एकदेश (कुछ अंशों में) अभाव होना इसे निर्जरा कहते हैं। जो बंध का स्वरुप जानने में भूल करता होगा वह निर्जरा तत्त्व का सही स्वरुप कैसे जान सकता है ? पुण्य कर्म के बंधन में जिसे सुख-बुद्धि होती है वह निर्जरा का उपाय दुःखरुप मानता है।

जीव दुःखी होता है स्वयं ने ही बांधे हुए पूर्व कर्म के फल से परंतु अन्य पदार्थों को अपने दुःख का कारण मानकर उन पदार्थों के नाश का उपाय करता है,

परंतु कर्म के नाश का उपाय नहीं करता। इसतरह निर्जरातत्त्वसंबंधी विपरीत मान्यता के कारण यह जीव दुःखी ही रहता है।

मोक्षतत्त्वसंबंधी विपरीत मान्यता

मोक्ष अर्थात् पूर्ण निराकुल सुख, अनंत सुख की प्राप्ति, कर्मों का पूर्ण अभाव, आत्मा की परिपूर्ण शुद्ध दशा। आत्मा अनंत गुणमय है, उन सब अनंत गुणों का सामर्थ्य पूर्णरुप से पर्याय में प्रगट होना इसी को मोक्ष कहते हैं।

मिथ्यादृष्टि जीव को सच्चे सुख की पहिचान न होने के कारण पांच इंद्रिय और मन के द्वारा विषयभोग करने में ही वह सुख मानता है। सच देखा जाय तो अनेक पदार्थों को भोगने की इच्छा वह करता है। आत्मा तो मात्र उन पदार्थों को जान ही सकता है, उनका ग्रहण वा त्याग कर ही नहीं सकता। अज्ञानी निरंतर ग्रहण-त्याग की इच्छा करके निरंतर आकुलता करता है। क्वचित् इच्छा पूर्ण हुअी तो उसमें सुख मानता है परंतु उसीसमय में नवीन इच्छाजन्य आकुलता तो रहती ही है। वीतरागता याने इच्छाओंका पूर्ण अभाव ही निराकुलतामय है।

अज्ञानी भोगोंसंबंधी के सुख को सच्चा सुख मानता है और उसीप्रकार का सुख मोक्ष में होगा ऐसी कल्पना करता है यही उसकी मोक्षतत्त्वसंबंधी विपरीत मान्यता है।

अनेक लोग हम से प्रश्न पूछते हैं, 'अहो! मोक्ष में जाने के बाद वहाँ क्या करना? अगर कुछ नहीं करना तो वहाँ जाने में क्या मजा ?'

इस जीव ने बंधतत्त्व का स्वरुप जाना नहीं। दुःख कर्म बंधन से है और कर्मों का पूर्ण अभाव होकर ही पूर्ण सुखी बन सकते हैं ऐसा न जानने के कारण अर्थात् मोक्षतत्त्वसंबंधी विपरीत मान्यता के कारण परपदार्थ और अनिष्ट संयोगों को दुःख का कारण मानकर यह जीव परपदार्थ और संयोगों का नाश - अभाव करने की इच्छा करता है और निरंतर नवीन कर्म का बंध करता रहता है।

इतना सब विस्तार से देखनेपर पता चलता है जिसने एक अपने आत्मा को जानने में भूल की है वह सातों तत्त्वसंबंधी भूल करता है। सात तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान सात तत्त्वों को जानने के लिए नहीं परंतु एक अपने शुद्धात्मा को अर्थात् स्वयं को जानने के लिए है।

इन सात तत्त्वों में पुण्य और पाप ये दोनों, आस्रव और बंध इन दोनों तत्त्वों में समाविष्ट होते हैं। फिर भी कहीं कहीं आचार्यों ने उन दोनों का भिन्न कथन करके नौ पदार्थ बताये हैं। सात तत्त्व कहो या नौ पदार्थ कहो दोनों का एक ही अर्थ है।

सच देखा जाय तो पुण्य और पाप तो कर्म के नाम हैं। दोनों कर्म होने से दोनों की जाति एक ही है। दोनों आकुलता उत्पन्न करनेवाले होने से बुरे ही हैं।

परंतु मिथ्यादृष्टि जीव पुण्य को अच्छा और पाप को बुरा मानता है क्योंकि पुण्य के कारण अपनी इच्छानुसार कार्य बनता है इसलिए पुण्य अच्छा और पाप के कारण इच्छानुसार कार्य नहीं होता इसलिए पाप को बुरा मानता है।

वास्तव में तो सुख-दुःख जीव की मिथ्या मान्यता के कारण होते हैं। शरीर ही मैं हूँ ऐसा मानकर शरीर निरोगी होगा तो मैं सुखी ऐसी मान्यता के कारण जिस पुण्य कर्म के उदय में अनुकूल सामग्री मिलती है उस पुण्य के उदय को अच्छा मानता है और पाप के उदय को बुरा मानता है। यह भी उसकी विपरीत मान्यता ही है - बंधतत्त्वसंबंधी भूल है। जो पुण्य के उदय को अच्छा मानता है अर्थात् जो बंध को अच्छा मानता है वह बंध के अभाव स्वरुप मोक्ष को अच्छा कैसे मानेगा?

जो पुण्यबंध को भला मानता है वह बंध का कारण जो शुभास्रव याने शुभराग उसे भला मानता है और अशुभ राग को बुरा मानता है। जिसने आस्रव को भला माना अर्थात् करने योग्य माना उसने आस्रव के अभावरुप संवर को नहीं जाना और भला भी नहीं माना। जिसने आस्रव बंध को ही अच्छा (भला) माना वह संवर, निर्जरा मोक्ष को अच्छा नहीं मानेगा।

देखो ना, एक भूल भरी मान्यता के कारण अनेक भूलभरी मान्यताओं की शृंखला ही शुरु हो जाती है। कुम्हार के यहाँ एकपर एक घड़े रचते हैं। नीचे का पहला घड़ा उलटा रखा होगा तो उसपर रचे (रखे) जानेवाले सभी घड़े उलटे ही रखने पड़ते हैं। उसीप्रकार एक तत्त्व में भूल करने से सातों तत्त्वसंबंधी भूल भरी मान्यताओं की परंपरा शुरु हो जाती है (शृंखला शुरु होती है।)

शास्त्र सुननेवालों का हमेशा यही सवाल होता है कि फिर हम क्या करे? कैसे आचरण करे? देखो तो, प्रश्न में भी कर्ताबुद्धि ही दिखायी देती है। गत दोनों पत्रों में हमने मान्यता की भूल देखी, परंतु फिर भी मान्यता को सुधारना है ऐसा सीधा सरल जवाब ध्यान में नहीं आता और मनुष्यपर्याय ही मैं हूँ - मैं मनुष्य ऐसा मानकर मनुष्योचित व्यवहार सुधारने का विचार ही इस जीव को आता है। इससे उसकी जीव, अजीव, आस्रव आदि तत्त्वसंबंधी मान्यता की भूल - विपरीतता ही दिखायी देती है।

एक आदमी जमीनपर झुककर कुछ कर रहा था। उससे उसके मित्र ने पूछा, "अरे भाई! तुम क्या रहे हो?" उसपर उसने जबाब दिया, "मैं कबसे मेरी परछाया को जो टेढ़ीमेढ़ी दिख रही है, उसे सीधा करने की चेष्टा कर रहा हूँ।" तुम क्यों हँस रही हो? दूसरों की मूर्खता देखनेपर कैसी तुरंत हँसी आती है, है ना? मित्र ने सलाह दी, "परछाया सुधारने की कोशिश मत करो। तुम सीधे हो जाओ तो परछाया अपने आप सीधी हो जायेगी।"

हम भी पर्याय से, शरीर से एकत्व करके मनुष्यव्यवहार, आचरण सुधारने की चेष्टा - प्रयत्न करते हैं। उससमय हमारे परम सुहृद याने परममित्र अर्थात् देव, शास्त्र, गुरु हमसे कहते हैं, "हे भव्य! तुम अपने के पहचानो। पर्यायों की तरफ देख देखकर उनमें से विभाव और राग-द्वेष दूर करने का प्रयत्न छोड़ दो। तुम स्वयं अपने आप को स्वभाव रुप मानो, स्वयं को स्वयं में स्थापन करो तब तुम्हारी पर्यायें अपने आप स्वसन्मुख होकर स्वभावरुप परिणमन करने लगेगी।"

अनादि संस्कारवश ये विपरीत मान्यतायें होती हैं तो भी घबराने की कोई आवश्यकता नहीं है। सात तत्त्व का स्वरुप यथार्थ रीति से जानकर स्व में लीन होना यही भूल मिटाने का उपाय है।

इन सात तत्त्वों का 'ज्यों का त्यों श्रद्धान' अर्थात् उनके हेय, ज्ञेय, उपादेय स्वरुप के बारे में अगले पत्र में लिखूँगी।

शेष शुभ। घर में सब को यथायोग्य नमस्कार।

तुम्हारी माँ

❁ ❁

❁ तुमने भाग्य से अवसर पाया है, इसलिये तुमको हठ से भी तुम्हारे ❁
❁ हित के लिए प्रेरणा करते हैं। जैसे हो सके वैसे इस शास्त्र का अभ्यास ❁
❁ करो। अन्य जीवों का जैसे बने वैसे शास्त्राभ्यास कराओ। जो जीव ❁
❁ शास्त्राभ्यास करते हैं उनकी अनुमोदना करो। पुस्तक लिखवाना और ❁
❁ पढ़ने पढ़ाने वालों की स्थिरता करनी इत्यादि शास्त्राभ्यास के बाह्य ❁
❁ कारण उनका साधन करना, क्योंकि उनके द्वारा भी परंपरा कार्य सिद्धि ❁
❁ होती है व महत् पुण्य उत्पन्न होता है।। ❁
❁ 'सत्तास्वरुप' ८८ ❁
❁ ❁

❁ ❁

पत्रांक २४ २२ नवम्बर १९९५

सात तत्त्वों का यथार्थ श्रद्धान

प्रिय रीना एवं मोना,

अनेक उत्तम शुभाशीर्वाद।

सात तत्त्वसंबंधी यह विषय बड़ा रोचक है। उसपर जितना विवेचन करे उतना कम ही है। सात तत्त्वों का स्वरुप समझने के पश्चात् ही हमें समयसारादि ग्रंथों में आचार्यों ने आत्मा के स्वरुप का जो वर्णन किया हुआ है वह ख्याल में आता है। सात तत्त्वसंबंधी यह पांचवा पत्र है। जिस विषय की हमें रुचि है उस विषय की कितनी भी चर्चा करे तो भी हमें आलस नहीं आता, हम बोअर नहीं होते। उलटा उस विषय की गहराई में जाकर उसका स्वरुप जानने से उसकी रुचि अधिक बढ़ती है।

प्रयोजनभूत सात तत्त्वों की परिभाषायें हमने देखी, उनका संक्षिप्त स्वरुप भी देखा। अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव तत्त्वसंबंधी किसतरह से विपरीत मान्यता करता है उसे भी दो पत्रों द्वारा जाना। परंतु मात्र इतना ही जानना कार्यकारी नहीं है।

अब दृष्टांत देखते हैं -

किसी एक गॉव में अनेक घर हैं, कई रास्ते हैं। ये रास्ते काटों भरे हैं, कहीं उभड़े हुअे हैं इनमें कहीं गड्ढे हैं, अनेक विपत्तियों से भरे पड़े हैं। परंतु सभी घर अनेक सुख सुविधाओं से भरे हुअे हैं।

इन घरों में मेरा प्रवेश नहीं हो सकता। परंतु एक घर मेरा अपना है जिसमें प्रवेश करने से मुझे कोई रोक नहीं सकता, जिसमें मेरे अलावा अन्य कोई प्रवेश कर नहीं सकता, मेरा घर सुख सुविधाओं से परिपूर्ण है। इन रास्तों से हटकर साफ सुथरा एक मार्ग मेरी घर की ओर जाता है जिसपर चलकर मैं अपने घर में प्रवेश कर सकता हूँ। इसतरह केवल बहुत सारी जानकारी हासिल करने से हमें सुख की प्राप्ति नहीं होगी, वह ज्ञान यथार्थ ज्ञान नहीं होगा। दूसरों के घर एवं वहॉ के सुख देखकर भी हमें सुख नहीं प्राप्त होगा, विपत्तियों से भरे इन रास्तों पर चलते रहने से सुख की तो बात छोड़ो दुःख ही दुःख नसीब होगा। उस गॉव को जानना 'यथार्थ जानना' तभी कहलायेगा जब मैं जानूंगा कि मेरा सुख मात्र मेरे घर में है, अन्य घरों के सुख देखने से मुझे कोई लाभ नहीं है, यह विपत्तियों से भरा रास्ता छोड़कर अपने घर की ओर जानेवाला यह मार्ग ही मुझे पकड़ना होगा, इस मार्गपर चलकर घर तक पहुँचना होगा और घर में प्रवेश करते समय उस मार्ग को

छोड़कर घर में प्रवेश करना होगा। इस ज्ञान के अनुसार पूर्ण श्रद्धा (विश्वास) होनेपर जब अपने घर की ओर पहला कदम उठायेंगे तो ही वह श्रद्धा और ज्ञान सच्चे होंगे और जब घर में प्रवेश करके पूर्ण सुख का उपभोग करेंगे तभी उस श्रद्धा, ज्ञान, आचरण की पूर्णता होगी।

अब इस दृष्टांत को सात तत्त्वसंबंधी सिद्धांत पर घटाते हैं। इस विश्व में अनंत द्रव्य हैं - जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। ये सभी द्रव्य अपने आप में परिपूर्ण हैं - अनंत गुणों से युक्त हैं। परंतु प्रत्येक द्रव्य अपने अपने स्व-चतुष्टय - द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से युक्त होने से मेरा इन द्रव्यों में प्रवेश नहीं हो सकता। मैं भी एक द्रव्य हूँ, अनंत गुणों से परिपूर्ण हूँ, मैं अपने द्रव्य क्षेत्र काल भाव में रहता हूँ, मेरे स्व-चतुष्टय में अन्य कोई प्रवेश नहीं कर सकता। चारों गतियों में भ्रमण करानेवाला संसार मार्ग है जो जन्ममरणादि अनेक विपत्तियों से भरा पड़ा है। इससे हटकर एक मोक्षमार्ग है जिसपर चलकर मैं मोक्षमहल में प्रवेश कर सकता हूँ - मार्ग छोड़कर अपने घर में निवास कर सकता हूँ। शास्त्रों से ऐसी जानकारी प्राप्त करके जब मैं अपने घर- स्वद्रव्य की तरफ पहला कदम उठाकर मोक्षमार्ग में आऊँगा अर्थात् सम्यक्त्व प्राप्त करूँगा तब से श्रद्धा, ज्ञान और आचरण सच्चे होंगे। इस मोक्षमार्ग पर चलकर जब घर में प्रवेश करके वहीं रहने लगूंगा - परिपूर्ण सुख का उपभोग करुंगा तभी श्रद्धा, ज्ञान, आचरण की पूर्णता होंगी।

मैं एक स्वतंत्र अस्तित्ववान सत् पदार्थ हूँ। मेरे अलावा अन्य अनंत जीव तथा अन्य सभी पांच द्रव्य अजीवतत्व है जो 'ज्ञेय तत्त्व' है। ज्ञेय अर्थात् जाननेयोग्य - उनका ज्ञान मुझे होता है, बस! इतना ही उनसे मेरा संबंध है। ज्ञेय तत्त्व है इसलिए उसे ही जानते रहना इष्ट है ऐसी किसी की कल्पना होगी तो वह भूलभरी है। अजीवतत्त्व को केवल जानना यह सही जानना नहीं है तो अजीवतत्त्व में मेरा प्रवेश नहीं हो सकता, मुझमें अजीवतत्त्व प्रवेश कर नहीं सकता, मेरा और अजीवतत्त्व का आपस में कोई भी संबंध, लेन-देन, सुखदुःख का कार्य कारणपना आदि नहीं हैं ऐसा जानना यथार्थ जानना है। अजीवतत्त्व 'पर' है, 'स्व' नहीं ऐसा जानना कार्यकारी है।

दूसरों के घर देखते - निहारते हुअे गड्ढे में गिर जाना मूर्खता है उसीतरह अजीवतत्त्व 'ज्ञेय तत्त्व' है ऐसा सोचकर उसे ही जानते रहने में हमें रस होगा, रुचि होगी तो वह यथार्थ जानना नहीं कहलायेगा। पूजा में भी हम कहते हैं, 'हो शांत ज्ञेयनिष्ठा मेरी'।

आज तक इस जीव को अजीवतत्त्व की ही महिमा भासित हो रही है। ज्ञेयलुब्ध होकर परद्रव्यों को जानने में ही इस जीव ने अनंत भव धारण किये। परंतु इन सबको जाननेवाला 'मैं' - ज्ञानवान (ज्ञायक), उसकी महिमा इस जीव

को नहीं आयी। प्रत्येक द्रव्य की पर्याय उसमें स्वयं में ही होती है। दर्पण में दिखनेवाला अग्नि का प्रतिबिम्ब यह दर्पण की पर्याय - अवस्था है। वह दर्पण की स्वच्छता को जाहिर करती है। तद्वत् सर्व पदार्थों को जाननेवाली ज्ञान की पर्याय आत्मा की अपनी है, वह ज्ञानगुण को जाहिर करती है। प्रतिबिंब देखने में जो मग्न हुआ उसे दर्पण की स्वच्छता का भान नहीं है, स्वच्छता नष्ट नहीं हुअी है! वैसा होता तो प्रतिबिंब दिखायी ही नहीं देता। तद्वत् ज्ञान में पदार्थ झलक रहे हैं, प्रतिबिंबित होते हैं तब उन प्रतिबिंबों को जानने में ही जो अटक जाता है - मग्न होता है, उसे ज्ञान का याने आत्मा अर्थात् ज्ञायकपने का भान नहीं होता।

रीना, मोना, आज तक तुम दर्पण में अपना मुँह निहारती थी, अब दर्पण की स्वच्छता देखने की कोशिश करना। थोड़ा प्रैक्टिकल भी तो जरुरी है ना?

यह जीव ज्ञेय तत्त्व को ज्ञेय न मानकर उसके ग्रहण-त्याग का भाव करता है। कई लोग सोचते हैं, 'फिर हमें धनसंपत्ति, घरबार का त्याग करना होगा' - ऐसा सोचनेवाले अजीवतत्त्व को यथार्थ रीतिसे नहीं जानते। जिसका कभी जीवतत्त्व में प्रवेश ही नहीं हुआ है उसका त्याग करने की बुद्धि हास्यास्पद है। रीना - मोना, मैं अगर तुम्हें कहूँ कि मैं अमेरिका के व्हाईट हाऊस का और आग्रा के ताजमहल का त्याग करनेवाली हूँ तो तुम मुझे मानसिक रुग्ण समझकर उपचार करने की व्यवस्था करोगी। अजीवतत्त्व को ज्ञेय न मानकर, हेय (छोड़नेयोग्य) या उपादेय (ग्रहण करनेयोग्य) मानना यही बड़ी भारी भूल है। तत्त्वज्ञानरुपी उपचार की उसे आवश्यकता है।

१. ज्ञेय अर्थात् जाननेयोग्य - अजीवतत्त्व
२. हेय अर्थात् छोड़नेयोग्य, त्यागनेयोग्य - आस्रव-बंधतत्त्व.
३. उपादेय शब्द के तीन भेद हैं
   अ) आश्रय करनेयोग्य उपादेय - जीवतत्त्व
   ब) एकदेश (आंशिक) प्रगट करने योग्य उपादेय - संवर - निर्जरातत्त्व.
   क) पूर्ण प्रगट करनेयोग्य उपादेय - मोक्षतत्त्व

पत्र के प्रारंभ में हमने जो दृष्टांत देखा था उसमें जैसे दूसरों के घरों को जानते रहने से सुख नहीं मिलता परंतु वे घर मेरे नहीं हैं मात्र इतना जानना ही कार्यकारी है। वे मेरे मात्र ज्ञेय हैं। उन घरों का मुझे त्याग करना चाहिए ऐसा मानना गलत होगा क्योंकि वे घर मेरे हैं ही नहीं तो उनको हेय मानना भ्रांति है। उसीतरह दूसरे घरों से मैं सुख प्राप्त करुँगा मानना अर्थात् उन्हें उपादेय मानना भी भ्रांति है क्योंकि उन घरों में मेरा प्रवेश ही नहीं हो सकता। वे घर दूसरों के हैं, मेरे नहीं, मेरा सुख मेरे घर में है ऐसा जानना, यथार्थ जानना है और इसतरह से जानने पर ही अन्य घरों का यथार्थ ज्ञान हुआ ऐसा कह सकते हैं। यह तो दृष्टांत

हुआ, अब सिद्धांत देखते हैं। दृष्टांत में देखा उसीतरह अजीवतत्त्व मात्र ज्ञेयतत्त्व है, वह स्वतत्त्व नहीं है, परतत्त्व है। मेरा सुख स्वतत्त्व में है, परतत्त्व में नहीं। तथा अजीवतत्त्व हेय नहीं है क्योंकि उसका मेरे में अभाव ही है तो मैं उसे किसतरह त्याग सकता हूँ? अजीवतत्त्व उपादेय भी नहीं है क्योंकि उसमें मेरा प्रवेश ही नहीं है। इसप्रकार से अजीवतत्त्व को जानना यथार्थ जानना है।

हम अरिहंत सिद्धों के प्रति देखते है कि मेरा भी वैभव, मेरा भी स्वभाव उनके जैसा ही है यह जानने के लिए। स्वभाव में लीन होकर अजंत सुखी बन सकते हैं इसका साक्षात् उदाहरण अरिहंत सिद्धों के रुप में विद्यमान है। उन्होंने यह सुख किस रीतिसे - किस विधिसे प्राप्त किया यह जानने के लिए अरिहंत की वाणी - जिनवाणी हम सुनते हैं, मुनि तो साक्षात् उस मोक्षमार्ग पर आरुढ हैं इसलिए देव-शास्त्र-गुरु वंदनीय हैं, पूजनीय हैं। परंतु इस जीव ने देव-गुरु-शास्त्र को ही उपादेय माना। सही देखा जाय तो ये सब अजीवतत्त्व है, ज्ञेयतत्त्व है परंतु उन्हें आश्रय करनेयोग्य उपादेय तत्त्व माना। उन्हें जानकर, उपदेश सुनकर आश्रय तो स्वतत्त्व का - जीवतत्त्व का लेना था परंतु वैसा न करते हुअे मात्र देवपूजा, शास्त्र-श्रवण, गुरु की उपासना में ही यह जीव संतुष्ट होकर वहीं रुक गया। ये शुभभाव और उनसे होनेवाला बंध ये तो आस्रव-बंध तत्त्व हैं। तात्पर्य यह हुआ कि केवल अजीवतत्त्व (देव-गुरु-शास्त्र) को ही उपादेय मानकर यह जीव नहीं रुका परंतु आस्रव-बंधतत्त्व (देव-गुरु शास्त्र की भक्ति) को भी उसने उपादेय माना, आश्रयभूत माना।

सम्यग्दृष्टि जीव को भी देव-गुरु-शास्त्र का बहुमान, वंदन, पूजा का भाव आता है, उसे शुभ-अशुभ भाव याने आस्रव और उससे होनेवाला बंध भी होता है। परंतु मान्यता में वह आस्रव बंध को हेय ही मानता है, त्यागनेयोग्य मानता है, उपादेय नहीं मानता। देव, गुरु, शास्त्र को वह ज्ञेय तत्त्व मानता है। बारम्बार स्वसन्मुख याने जीवतत्त्व के सन्मुख उपयोग केंद्रित करके वह आत्मलीनता साधने में प्रयत्नशील रहता है। ऐसी यथार्थ मान्यता होगी तो ही उसकी देव-गुरु-शास्त्रों की श्रद्धा सच्ची है ऐसा कह सकते हैं।

कुछ लोग कहते हैं, "हम केवल सच्चे देव-गुरु-शास्त्र को ही नमस्कार करते हैं, सात तत्त्वों के नाम और लक्षण हमें मालूम है अर्थात् हमें सात तत्त्वों की श्रद्धा है।" परंतु उनकी श्रद्धा में हेय, ज्ञेय, उपादेय तत्त्वों का जैसा योग्य श्रद्धान होना जरुरी था वैसा न होने से, 'ज्यों का त्यों श्रद्धान' न होने से उनकी यह श्रद्धा विपरीत ही है ऐसा शास्त्र में कहा है।

आज कल तो देह को ही 'मैं' मानकर लोग उसे ही परमउपादेय मान रहे हैं। स्वयं का अस्तित्व ही जीव भूल गया है। इतना ही काफी नहीं था कि देह से भिन्न

तू आत्मा है ऐसा बतानेवाले को ही मूरख कहता है। अपने किसी प्रिय व्यक्ति की स्मृति भ्रष्ट होने से वह अपना नाम, गाँव, बुद्धि सब भूल जाता है, विस्मरण होता है तो हम भी दुःखी होते हैं, आँखों में आसू आते हैं। परंतु हम भी अनादिकाल से मतिभ्रष्ट होकर, अपने आप को भूलकर, प्रत्येक गति में जो जो शरीर प्राप्त हुआ उसे ही 'यह मैं' मानकर पागल की भाँति घूम रहे हैं, दुःख भोग रहे हैं परंतु उस बात का पता ही नहीं है।

कुछ लोग कहते हैं कि 'अहो ! मैं जीव हूँ यह तो सच है, परंतु जीव को रहने के लिए शरीर तो आवश्यक ही है ना ? शरीर के बिना जीव अंतराल में ही लटकते रहेगा क्या?' उन लोगों ने प्रत्येक द्रव्य की स्वतंत्रता को ही नहीं जाना। जीवतत्त्व का और अजीवतत्त्व का स्वरुप वे जानते नहीं हैं। इतना ही नहीं, अनेक वर्षों से सिद्धों को नमस्कार करके भी सिद्ध भगवान जीव हैं और वे अशरीरी हैं वैसे मैं भी जीव हूँ और शरीर पुद्गल है और मेरे से अत्यंत भिन्न है इस बात को भी वे लोग नहीं जानते।

उपवास करने से मुझे कैसे हलका हलका भासित होता है, णमोकार मंत्र पढ़ने से फेफड़ों में फलाना लाभ होता है, न्हाँ कहने से फलाना लाभ, न्हीं कहने से विशिष्ट लाभ इसतरह शरीर के अवयवों में ल..भ ढूँढना और उसमें महात्म्य भासित होना यह सब अभिप्राय का याने मान्यता का विपरीतपना ही है। उस जीव को अभी भी शरीर में ही एकत्व है, ममत्व है। इस शरीर से हम देवपूजा और व्रतों का काम करवा लेते हैं ऐसा मानना भी महान भूल है क्योंकि शरीर का याने परद्रव्य का कर्ता बनकर कर्तृत्वबुद्धि रुप मिथ्यात्व का ही पोषण वह करता है।

भूतप्रेत की बातें करने जायेंगे तो एक कहानी से दूसरी कहानी याद आती है, उसीतरह मूर्खता की इन बातों का भी कोई अंत नहीं है। ये भ्रांत कल्पनायें औरों की है ऐसा समझकर अन्य लोगों की तरफ देखने की वृत्ति (आदत) छोड़कर ये मूर्खता की बातें क्या मुझमें हैं? ऐसा विचार करना। मैंने अगर आज तक ऐसी मूर्खता नहीं की होती तो कब का सम्यग्दर्शन प्राप्त करके मैं सिद्धालय में विराजमान हो गया होता। अपना स्वाधीन सुख भोगता। चिंता की कोई बात नहीं, अपने ही मूर्खता का पता चलना यह भी सयानेपन की ओर मुड़नेवाला पहला कदम है।

आज सिर्फ अजीवतत्त्व संबंधी चर्चा हुअी, मात्र ज्ञेयतत्त्व के बारे में ज्ञान किया। अब्य तत्त्वसंबंधी विवेचन अगले पत्र में करूंगी।

शेष शुभ, घर में सभी को यथायोग्य नमस्कार कहना।

तुम्हा[illegible] माँ

पत्रांक २५ २० दिसम्बर १९९५

सात तत्त्वों का यथार्थ श्रद्धान (भाग २)

प्रिय रीना एवं मोना,

अनेक उत्तम शुभाशीर्वाद।

सात तत्त्वों का अभ्यास करते समय सर्वप्रथम मैं स्वयं जीवतत्त्व हूँ यह बात ध्यान में रखकर ही सभी तत्त्वों का स्वरुप समझना चाहिए। रामायण सुनने के बाद भी अगर कोई पूछे, "अहो, आप जरा बताइए तो सही, कि सीता राम की कौन थी?" तो हम सिर पर हाथ मारकर कहेंगे 'नसीब मेरा'। तद्वत् जीव-अजीवतत्त्व का स्वरुप, उनके लक्षण, उनके संबंध में होनेवाली विपरीत मान्यता और यथार्थ श्रद्धान इतनी सारी बातों का अभ्यास करने के बाद भी अगर कोई पूछे, "हम इतना सारा अब पढ़ चुके हैं परंतु आप हमें यह तो बताइए कि समाज में रहते हुअे हमें किसतरह आचरण रखना? बाल बच्चों का पोषण करें या न करें? दूसरों की मदद करें या न करें?"

ऐसे सवाल उठने का एकमात्र यही कारण है कि उसने अपने आप को जीवतत्त्व न मानकर, मनुष्यपर्याय ही मैं हूँ ऐसा माना है। आत्मा + शरीर मिलकर मैं हूँ ऐसा जीव और अजीवतत्त्व को एक मानने के कारण उस व्यक्ति को ऐसा प्रश्न उठा। पर्यायगत योग्यता के अनुसार वैसे भाव आते हैं परंतु उसीसमय 'उन भावों को - उन विचारों को जो जान रहा है वह 'मैं' हूँ, मैं मात्र ज्ञान ही कर सकता हूँ, अन्य कुछ भी नहीं' ऐसा ज्ञान और श्रद्धान होनेपर ही उसने जीव-अजीवतत्त्वों का यथार्थ श्रद्धान किया ऐसा कह सकते हैं।

'इस विश्व में अनंत जीव, अनंतानंत पुद्गल, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और असंख्यात कालद्रव्य इतने सारे द्रव्य हैं। मैं एक भिन्न स्वतंत्र द्रव्य हूँ, मैं स्वयं आपरुप से हूँ पररुप से नहीं। परद्रव्यों की मेरेमें और मेरी परद्रव्यों में नास्ति है' ऐसा समझते ही उसी क्षण हमारी दृष्टि सभी परद्रव्यों से हटकर स्वद्रव्य की तरफ मुड़ती है। द्रव्य तो उत्पाद-व्यय-ध्रुवता से युक्त है। द्रव्यांश अर्थात् कायम रहनेवाला एकरुप त्रिकाली ध्रुव अंश और पर्यायांश अर्थात् प्रत्येक समय में बदलनेवाला अनित्य अंश ऐसे द्रव्य के दो विभाग ज्ञान में आनेपर जो ध्रुव अंश, कभी भी न बदलनेवाला, सदा एकसा, वैसे का वैसा, वही रहनेवाला ऐसा जो स्वभाव, न पलटनेवाला अपरिणामी भाव वह मैं हूँ यह बात समझ में आती है। इस 'मैं' याने जीवतत्त्व का हमें आश्रय लेना है अर्थात् पर्याय अंश मैं नहीं हूँ ऐसा-पर्याय को गौण करके, पर्याय को दुर्लक्षित करके जीवतत्त्व का आश्रय लेना है। इसका ही तात्पर्य यह हुआ कि जीवतत्त्व उपादेय है, आश्रय करनेयोग्य उपादेय अथवा परमउपादेय है।

इसीलिए जिनेंद्र भगवंतों ने पर्याय तत्त्वों का स्वतंत्र स्वरुप बताकर आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा एवं मोक्ष पर्यायों के भेद बताये हैं। पर्याय मात्र का लक्ष (दृष्टि - ध्यान) छोड़े बिना जीवतत्त्व का आश्रय नहीं ले सकते। सर्वप्रथम 'मेरे से ये अन्य सभी तत्त्व भिन्न हैं और मैं भिन्न हूँ क्योंकि मेरे लक्षण भिन्न हैं और इन अन्य तत्त्वों के लक्षण भिन्न भिन्न हैं ऐसा जानना पड़ेगा। सब तत्त्वों में महान ऐसा मैं जीवतत्त्व हूँ इसतरह स्व की महानता भासित हुअे बिना हमारी दृष्टि, उपयोग, ध्यान स्व की ओर नहीं मुड़ सकता।

जब तक सम्यग्दर्शन (संवर-निर्जरा) अथवा मोक्ष की 'स्व' से अधिकता - महानता भासित होगी तब तक उपयोग स्व की ओर झुकेगा नहीं। उपयोग स्व में लीन हुअे बिना सम्यग्दर्शन होगा नहीं अर्थात् सम्यग्दर्शन की तरफ दृष्टि रखने से सम्यग्दर्शन नहीं होगा परंतु उन पर्यायों की तरफ से दृष्टि को हटाकर स्व की ओर दृष्टि केंद्रित करे तो सम्यग्दर्शन होगा क्योंकि जिस बात की हमें महानता भासित होती है उसकी ओर ही उपयोग बारम्बार जाता है।

परंतु पर्यायों की ओर से उपयोग हटाने की यह प्रक्रिया थोड़ी बाद में होगी, उसके पहले ये जो पांच पर्यायतत्त्व हैं उनका यथार्थ ज्ञान और श्रद्धान कर लेना है। अनादि से मिथ्यादृष्टि जीव आस्रव और बंध करता आया है, उसे सम्यक्त्व याने मोक्षमार्ग अर्थात् संवर निर्जरा प्रगट करनी है और इस मोक्षमार्ग पर आगे बढ़कर मोक्ष प्रगट करना है। इसी का तात्पर्य यह हुआ कि संवर - निर्जरा ये दो तत्त्व **'एकदेश प्रगट करनेयोग्य उपादेय है'** और मोक्षतत्त्व **'पूर्ण प्रगट करनेयोग्य उपादेय' है।**

अंतर ख्याल में आया की नहीं? **कि जीवतत्त्व को आश्रय करनेयोग्य उपादेय** बताया है और मोक्षतत्त्व को प्रगट करनेयोग्य उपादेय बताया है। यहाँ मोक्षतत्त्व का आश्रय लेने का उपदेश नहीं दिया जा रहा अपितु मोक्ष प्रगट करने में ही अपना कल्याण है ऐसा बताया जा रहा है। मोक्ष पर्याय की तरफ देखते देखते मोक्ष प्रगट नहीं होता परंतु स्व की तरफ देखते रहने से अर्थात् आत्मानुभवन में लीन रहते रहते मोक्ष पर्याय प्रगट होती है।

संवर और निर्जरातत्त्वों को एकदेश याने आंशिक प्रगट करनेयोग्य उपादेय क्यों कहते हैं? इसपर हम विचार करेंगे। संवर-निर्जरा अर्थात् मोक्षमार्ग। घर की ओर जानेवाले मार्ग पर चलकर हम घर तक पहुँच गये, तो भी घर में प्रवेश करने के लिए हमें उस मार्ग का त्याग करना पड़ता है, उस मार्ग पर रखा हुआ कदम मार्गपर से हटाकर घर में रखना होगा। उसीतरह संवर निर्जरा रुप मोक्षमार्ग पर चलकर ही हम मोक्ष की ओर आगे बढ़ सकते हैं परंतु जब मोक्ष पर्याय उत्पन्न होगी तब संवर-निर्जरा रुप मोक्षमार्ग की पर्याय का अभाव - व्यय करके ही उत्पन्न होगी।

इसके अलावा और भी एक बात है कि अंतिम ध्येय (लक्ष्य) निश्चित किए बिना जीव मार्ग में ही संतुष्ट होकर बैठ जायेगा। केवल संवर - निर्जरा प्रगट हुअी

अर्थात् सम्यग्दर्शन प्रगट हो गया तो हो गयी मेरी इतिकर्तव्यता ऐसा मानकर जो संतुष्ट होगा उसका श्रद्धान विपरीत होने से एक तो सम्यग्दर्शन होगा नहीं और कदाचित् पूर्व में प्रगट हो गया हो तो वह पुनश्च मिथ्यादृष्टि होगा।

संवर-निर्जरा यह मोक्ष का उपाय है - मोक्ष का मार्ग है। आस्रव-बंध का अभाव करने से संवर - निर्जरा प्रगट होती है। संवर और निर्जरा को प्रगट करनेयोग्य मानते ही आस्रव बंध अभाव करनेयोग्य - नष्ट करने योग्य - छोड़नेयोग्य हैं अर्थात् आस्रव और बंध ये दोनों हेय तत्त्व हैं यह बात ध्यान में आती है। शुभ-अशुभ राग और उनके कारण होनेवाला बंध त्यागने योग्य है। संवर-निर्जरा शुद्ध भाव है - वीतरागभाव है और आस्रव बंध अशुद्धभाव है, राग भाव है। अशुद्धभाव कायम रखकर कोई शुद्ध भाव प्रगट करने की इच्छा करता होगा अर्थात् राग करते करते वीतरागता प्रगट हो जायेगी ऐसा कोई मानता होगा तो वह उसका दोष है, विपरीत मान्यता है अर्थात् मिथ्यात्व है।

जैन दर्शन छोड़कर अन्य सभी दर्शनों में (धर्मों में) पुण्य भला है, शुभभाव करो, अशुभ भाव छोडो ऐसा उपदेश है। शुभभाव और अशुभभाव इन दोनों को छोड़कर एकमात्र शुद्ध भाव ही प्रगट करनेयोग्य है - वही हमारा प्रथम कर्तव्य है ऐसा प्रतिपादन केवल जैनदर्शन में जिनेंद्र भगवंतों ने किया है।

तत्त्वों का अभ्यास और यथार्थ श्रद्धान करते समय शुभभाव छोड़नेलायक है, हेय है, ऐसा योग्य श्रद्धान करना जरुरी है। शुभ भला है ऐसी विपरीत मान्यता की जड़ इतनी गहराई तक पहुँची हुअी है कि किसी ना किसी बहाने से 'शुभ भला' इस मान्यता को जीव कायम रखना चाहता है। 'अहो, शुद्ध में जाने के लिए प्रथम शुभ में आना ही चाहिए ना ?' ऐसा कहकर 'चाहिए' इस शब्द का वजन शुभ पर ड़ालकर वह जीव शुभ को महत्व देकर आस्रव - बंध को हेय न मानकर उपादेय मानता है और तत्त्वसंबंधी विपरीत मान्यता दृढ करके मिथ्यात्व का ही पोषण करता है।

जब तक शुद्धभाव प्रगट नहीं होता अर्थात् सम्यग्दर्शन नहीं होता, शुद्धोपयोग नहीं होता तब तक जीव को शुभ में से अशुभभाव और अशुभ में से शुभभाव ऐसा सदा ही चलता रहता है। शुभभाव हो या अशुभभाव हो, उसमें रहने का अधिक से अधिक काल अंतर्मुहुर्त है अर्थात् शुभभाव हो या अशुभभाव हो वह अधिक से अधिक अंतर्मुहुर्त काल तक ही टिक सकता है। हाँ, हाँ! अंतर्मुहुर्त का अर्थ बता रही हूँ। मुहुर्त के अंदर का काल, इसे कहते है अंतर्मुहुर्त। मुहुर्त होता है दो घड़ी का, १ घड़ी होती है २४ मिनट की। समय कितना सूक्ष्म होता है यह हमने बहुत पहले ही जाना है। असंख्यात समयों की १ आवलि होती है। अंतर्मुहुर्त का अर्थ है १ आवलि से अधिक और दो घड़ी से किंचित कम काल। १ सैकंड में भी असंख्यात समय बीत जाते हैं। इसलिए स्थूलरुप से तुम ऐसा कह सकती हो कि एक आवलि से

अधिक और ४८ मिनट से कम काल अंतर्मुहुर्त काल है। इनके बीच के सभी विकल्प-Possibilities को अंतर्मुहुर्त ही कहते हैं।

इसतरह जब अशुभभाव पलटकर शुभभाव अपने आप आते ही हैं तब 'शुभ में आना ही चाहिए' कहकर वह जीव शुभभाव में ही संतुष्ट होने की मान्यता कायम रखता है। उसकी आस्रव (शुभराग) करनेलायक है - करना ही चाहिए ऐसी मान्यता है, राग करते करते वीतराग बनूँगा ऐसी मान्यता है, शुभभाव करते करते शुद्धभाव प्रगट होगा ऐसी मान्यता है। ये सभी मान्यतायें विपरीत हैं, और विपरीत मान्यता को ही मिथ्यात्व कहते हैं।

यह विपरीतता श्रद्धा में है इसकारण उसके अनुसार होनेवाला ज्ञान और आचरण भी विपरीत हो रहे हैं। प्रत्येक व्यक्ति आचरण सुधारने की चेष्टा एवं प्रयत्न करता है परंतु मान्यता विपरीत रखकर ज्ञान और आचरण तीनों काल में कभी भी सम्यक् नहीं हो सकते।

सच देखा जाये तो, सम्यग्दर्शन का मार्ग बहुत सरल है, सहज है। बस्स! 'सच्चे देवगुरुशास्त्र का यथार्थ श्रद्धान' तथा 'सात तत्त्वों का यथार्थ श्रद्धान' को ही सम्यग्दर्शन कहते हैं। असल में ये दोनों एक ही है! यह किसतरह कह सकते हैं देखो - मोक्षतत्त्व के श्रद्धान में सच्चे देव का श्रद्धान अंतर्भूत है, संवर-निर्जरातत्त्व के श्रद्धान में सच्चे गुरु का श्रद्धान अंतर्भूत है और सातों तत्त्वों के यथार्थ श्रद्धान में सच्चे शास्त्र का श्रद्धान अंतर्भूत होता है क्योंकि शास्त्रों का प्रयोजन ही यह है कि सात तत्त्वों का स्वरुप बताकर, भेदविज्ञान की कला बताकर, वीतरागता का उपदेश देना।

आज तक आस्रव बंध को हेय न मानकर, उपादेय माना यही हमारी बड़ी भारी भूल हो गयी।

हमने आस्रवादि पर्याय तत्त्वों के प्रत्येक के दो दो भेद देखे थे। द्रव्य और भाव। द्रव्यआस्रव, द्रव्यबंध, द्रव्यसंवर, द्रव्यनिर्जरा और द्रव्यमोक्ष ये तो कर्म की अवस्थायें हैं। कर्म कार्माणवर्गणा से बनता है, कार्माणवर्गणा पुद्गल है और पुद्गल परद्रव्य है। अजीवतत्त्व का अभ्यास करते हुअे हमने सभी परद्रव्यों को ज्ञेय तत्त्व में ड़ाल दिया था। परंतु वैसा न मानकर, मुझे फलाना कर्म का नाश करना है, दर्शनमोहनीय कर्म मुझे सम्यक्त्व होने नहीं देता, नहीं तो मैं कब का सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेता, मैं कर्म का कर्ता हूँ अथवा कर्म मेरे भावों का कर्ता हर्ता है ऐसा मानना यह सब मान्यता की विपरीतता ही है।

अनेक लोग ऐसा आरोप लगाते हैं कि 'आप आस्रव-बंध को हेय बताते हैं, शुभभाव हेय है ऐसा कथन करते हैं उसे सुनकर जीव की दशा 'करेला ऊपर नीम चढ़ा' - जैसी होगी (मराठी में कहावत है पहले से ही मर्कट है और ऊपर से मद्य पिया है) और जीव शुभ छोड़कर अशुभ में ही मग्न होगा।' परंतु उनका यह भय

निराधार है। क्योंकि शुभ भला है, करते रहने जैसा है यह मान्यता छुड़ानी है, शुभ छोड़ने का कहाँ उपदेश है? यह जो स्वाध्याय चल रहा है - मान्यता के विपरीतता का विवेचन चल रहा है वह शुभभाव है या अशुभभाव? यह भी शुभराग ही है और शुभभाव करने के लिए किसी के उपदेश की जरुरत भी कहाँ है ? सूक्ष्म एकेंद्रिय से लेकर संज्ञी पंचेंद्रिय तक के चारों गति के जीवों का भी शुभ अशुभ भावों का रहट तो सदा घुम ही रहा है।

तुम दोनों लड़कियाँ हो इसलिए लड़की का उदाहरण देकर समझाती हूँ। लड़की का जब्म होता है तभी से माँ बाप मानते हैं कि यह तो पराया धन है, हेय है। फिर भी उसकी शादी होकर वह पराये घर नहीं जाती तब तक उसका लाड़-प्यार, पोषण, शिक्षण, संस्कार, अपने पैरों पर खड़ा होकर धनोपार्जन करने का शिक्षण आदि सभी बातों में क्या थोड़ी सी भी ढ़ील होती है? उलटा बहुत ध्यानपूर्वक उसे सम्हाला जाता है। शादी होनेपर भी तुम लड़कियाँ शुरु शुरु में बार-बार मायके आती हो और कुछ काल के बाद ससुराल में इतनी घुलमिल जाती हो, आनंद में रहती हो कि कभी कभार मायके आ भी जाओगी तो कब मैं 'मेरे अपने' घर चली जाऊँ ऐसा सोचती हो। आस्रव के बारे में भी वैसा ही हाल है। उसे हेय माना, श्रद्धा में त्यागने योग्य माना तो भी जब तक आस्रव छूटकर शुद्धभाव प्रगट नहीं होता तब तक अधिक अधिक उच्च प्रकार के शुभभाव आते ही रहते हैं। शुद्ध भाव प्रगट होनेपर भी पुनःपुनः आस्रव होते ही हैं। शुद्धि बढ़ती जाती है तब आस्रव पूर्णतः छूटते तो नहीं है परंतु कब मैं मेरे शुद्ध स्वभाव में जाऊँ ऐसी खटक निरंतर रहती है और एक समय ऐसा आता है कि आस्रवों का पूर्ण अभाव होकर मोक्ष दशा, पूर्ण शुद्धि प्रगट होती है।

जिस माँ के दिल में अपनी बेटी के कल्याण की भावना रहती है वह लड़की से कहती है, 'तुझे मायका हेय है, ससुराल उपादेय है, वह तेरा स्वघर है।' जिनवाणी माँ को भी हमारे कल्याण की भावना है, वह बता रही है, "अनादिकाल से तुम आस्रव बंध करते आये हो परंतु वह हेय तत्त्व है, उन्हें छोड़कर निजतत्त्व का याने स्वजीवतत्त्व का आश्रय लो, तो संवर, निर्जरा, मोक्ष रुप सुख प्राप्त होगा।" संवर निर्जरा प्रगट होनेपर भी शुरुवात में साथ साथ में अल्प आस्रव-बंध कुछ काल तक होते रहेंगे परंतु कालांतर से उनका अभाव होकर पूर्ण सुखरुप, अनंत सुखरुप मोक्ष अवस्था प्रगट होगी।

अधिक चर्चा अगली बार करेंगे।

शेष शुभ, घर में सब को यथायोग्य नमस्कारादि कहना

तुम्हारी माँ

पत्रांक २६ १५ जनवरी १९९५

सात तत्त्व - भेदविज्ञान

प्रिय रीना एवं मोना,

अनेक उत्तम शुभाशीर्वाद।

सभी पत्रों की एकत्रित झेरॉक्स कॉपी तुम दोनों ने दुबारा पढ़ी ऐसा तुमने बताया, अच्छी बात है। मोना, महेशजी ने पढ़ा और उन्हें स्टार ट्रैक जैसा अद्‌भुत् लगा ऐसा तुमने बताया। कदाचित् अविश्वसनीय भी लगा होगा। अद्‌भुत साहित्य भी हम बड़ी उत्कंठता से पढ़ते हैं, वैसे भी अगर तुम जैसी युवा पिढ़ी ने इसे पढ़ा तो मेरे लिखने का उद्देश्य सफल हुआ ऐसा मैं समझूँगी। इन लेखों का पुस्तक बनाने की माँग बढ़ रही है। उस दृष्टि से प्रयत्न शुरु करुँगी। इसलिए अब तक के लेखों में कोई विषय समझ में न आया हो, समझने में कठिनाई लगती हो, या अन्य कुछ प्रश्न अनुत्तरीत रहे हो तो अवश्य लिखना।

अस्तु! हमारा विषय सात तत्त्वों का चल रहा है। सात तत्त्वों की विस्तृत चर्चा हम आज तक करते आये हैं। उनके नाम, स्वरुप, वे सात ही क्यों हैं, उनके संबंध में जीव की विपरीत मान्यतायें, तत्त्वों में हेय-ज्ञेय-उपादेयपना कैसे घटित करना आदि बातें हमने विस्तार से देखी। हमने यह भी सीखा था कि 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्।' इसलिए अब तुम कहोगी, 'वा! हमें अब सम्यग्दर्शन हुआ होगा'! हां, हां! ऐसी जल्दी मत करना, ध्यान से सुनना। यह जो सात तत्त्वों का ज्ञान हुआ है वह तो शब्दज्ञान-शास्त्रज्ञान-बहिरंग ज्ञान ही हुआ है। अभी आत्मज्ञान कहाँ हुआ है? इन सात तत्त्वों में छिपी हुअी आत्मज्योति' अब तक अनुभव में कहाँ आयी है?

तुम भी अब थोड़ी शास्त्र की भाषा सीख गयी हो इसलिए कहोगी, 'कम से कम व्यवहार सम्यग्दर्शन तो है ना?' ऐसा अगर तुम्हें लगता होगा तो तुम भ्रम में हो ऐसा मुझे कहना पड़ेगा। कहते हैं, 'आधा अधूरा ज्ञान खतरे से खाली नहीं होता' वैसी ही यह बात हुअी। अहो, जिस जीव ने इन सात तत्त्वों का अभ्यास करके उनमें से एक स्व चैतन्यतत्त्व ग्रहण किया, आत्मानुभव किया उसे निश्चय सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है और ऐसा निश्चय सम्यग्दर्शन होनेपर उस जीव का सात तत्त्वसंबंधी जो यथार्थ श्रद्धान होता है उसे व्यवहार सम्यग्दर्शन कहने में आता है। व्यवहार का अर्थ होता है उपचार से कहना। इसलिए निश्चय सम्यग्दर्शन से युक्त जीव को ही व्यवहार सम्यग्दर्शन होता है।

तुम फिर कहोगी, 'केवल आत्मा का ही अनुभव करना था तो फिर ये सात तत्त्व बताये ही क्यों?' क्योंकि केवल मैं शुद्ध हूँ, चैतन्यस्वरुप हूँ ऐसे रटनेमात्र से आत्मानुभूति नहीं होगी। सर्वज्ञ की वाणी में जैसा शुद्ध आत्मा का स्वरुप बताया

गया है वैसा ही अगर श्रद्धान हुआ तो ही आत्मानुभूति हो सकती है। उसके लिए आगम का अभ्यास और गुरु के उपदेश से ही यथार्थ तत्त्वनिर्णय करना चाहिए, अंतर्मुख होकर विचार करना चाहिए।

समयसार ग्रंथ की गाथा क्रमांक १२ में ऐसा बताया है कि - 'नव तत्त्वों में (पुण्य और पाप को भिन्न बताकर सात तत्त्व को ही नौ तत्त्व कहते हैं) एक आत्मा ही प्रकाशमान है और नव तत्त्वरुप होकर भी वह अपना शुद्ध स्वभाव नहीं छोड़ता।' इन सात तत्त्वों में कई शुद्ध भाव, कई अशुद्ध भाव और कई मिश्र भाव हैं परंतु चेतनास्वभाव तो उन सबसे भिन्न अनुभव में आता है।

शास्त्र में अग्नि का दृष्टांत दिया है। जैसे जलती हुअी लकड़ी, घास या गोबरी को देखनेपर अग्नि भी लकड़ी, घास या गोबरी के आकार की दिखायी देती है, परंतु अग्नि के मूल ज्वलन स्वभाव को देखनेपर एक ज्वलन स्वभावरुप ही अग्नि है, भिन्न भिन्न प्रकार की नहीं यह बात ज्ञान में आती है।

हमें आत्मानुभव करना है तो उसके लिए चार बातें आवश्यक हैं -

१. **सच्चे देव, गुरु और शास्त्र का यथार्थ स्वरुप पहचानकर उनकी दृढ श्रद्धा** - उक्त विवेचन में हमने देखा था कि जिनेंद्र भगवान ने बताये हुअे उपदेश से ही जीव को सम्यग्दर्शन होगा। उसके लिए जिनेंद्र का स्वरुप, उन्होंने बताया हुआ उपदेश (सत्शास्त्र) और उस उपदेश को अंगिकार करके आत्मानुभव करनेवाले भावलिंगी संत इन सबके निर्णय से ही हमें सच्चा उपदेश प्राप्त होगा। केवल देवपूजा, गुरुपास्ति, स्वाध्याय याने देव की मात्र पूजा करना, गुरु की सेवा करना और शास्त्र पढ़ लेना ऐसा अर्थ यहाँ अभिप्रेत नहीं है। उनके बताये हुअे मार्गपर चलना ही सच्ची भक्ति, उपासना है।

२. **सात तत्त्वों की यथार्थ प्रतीति** - सात तत्त्वसंबंधी विपरीत मान्यता छोड़कर, तत्त्वों का सही स्वरुप जानकर, उनमें हेय ज्ञेय उपादेय तत्त्व की पहचान और श्रद्धा करके उसपर बारम्बार विचार करके ये तत्त्व सचमुच में वैसे ही हैं ऐसा परीक्षापूर्वक निर्णय करना ही प्रतीति करना है।

३. **स्व पर भेदविज्ञान** - मैं कौन हूँ, पर कौन है इसे जानकर स्व को स्व जानना और मानना तथा पर को पर जानना एवं मानना। सात तत्त्वों में स्व पर भेदविज्ञान करना।

४. **आत्मानुभूति** - स्व कौन है इस बात को जाननेपर - समझनेपर बारम्बार अंतर्मुख होकर 'स्व' की अनुभूति करने का अभ्यास करना। यह आत्मानुभूति हमें करनी है। आत्मा कैसा है (आत्मा का स्वरुप) और उसका अनुभव किस विधि से किया जाता है इसका उपदेश अरिहंत भगवंतों ने दिया, उसके अनुसार अनेक जीवों ने आत्मानुभव किया, अनेक आचार्यों ने ग्रंथरचना करके यह मार्ग लिखकर रखा

'हम स्व को पहचानकर निज वैभव का आनंद लूट रहे हैं, तुम भी अपने निजवैभव को जानो और उसका उपभोग करो' - ऐसा उपदेश उन्होंने दिया है।

उक्त चार बातों में से पहली दो बातों पर हमने आज तक विस्तृत चर्चा की है। आज का हमारा विषय है भेदविज्ञान। यहाँ किसी भी दो चीजों में भेद पाड़ना ऐसा अर्थ नहीं है परंतु एक ओर मैं स्वयं और दूसरी ओर अन्य चीजें इनमें लक्षण जानकर उसके द्वारा भेद करना ऐसा अर्थ है। भेदविज्ञान तो सहज ही होता है। नन्हा बालक भी यह मेरी माँ है इस बात को समझता है। इसकारण अपनी माँ ने दूसरे बालक को हाथ में उठा लेने से उसे गुस्सा आता है, रोना आता है।

अभी अभी ऊपर बताया था उसके अनुसार भेदविज्ञान में जिन दो चीजों में - पार्टियों में भेद करना है उसमें से एक पार्टी 'मैं स्वयं' होना जरुरी है और दूसरी पार्टी में अन्य बातें। मात्र दो भिन्न पार्टियों में भिन्नता करना भेदविज्ञान नहीं कहलाता।

अभी क्रिकेट मॅचेस चल रही हैं। उसमें इग्लंड, न्यूझीलंड, श्रीलंका आदि आपस में खेलते हैं उस समय उसमें कौन जीत रहा है, कौन हार रहा है उसके बारे में हमें बहुत ज्यादा चिंता नहीं होती। परंतु कल की ही बात देखो, भारत और पाकिस्तान के बीच में मॅच था तब करोडों लोगों की नज़रे T.V. स्क्रीन पर लगी हुअी थी, और हर क्षण श्वास को थामकर कौन जीत रहा है इसपर सारा ध्यान लगा हुआ था, क्योंकि उनमें से एक पार्टी हम थे।

वहाँ मैदान में ११ - ११ खिलाड़ी खेल रहे थे परंतु पूरे भारत का प्रतिनिधित्व करने के कारण यह टीम ही भारत अर्थात् हम हैं ऐसा सभी भारतवासियों ने बिना सिखाये, बिना बताये मन में पक्का किया था, इस बात को सहज ही ग्रहण किया था - जान लिया था और हमारी जीत होते ही याने इस खेलनेवाली टीम की जीत होते ही पूरे भारतभर आनंद का उफान आया था।

उसीतरह आत्मा ही मैं ऐसा अहंभाव - 'मैं' ऐसा पक्का निर्णय होगा तब दूसरी पार्टी में शरीर, कर्म, राग-द्वेष और अन्य सभी पदार्थ होंगे। हम सब जीवों का प्रतिनिधित्व (represent) करनेवाला कोई आत्मा (जीव) इस दूसरी पार्टी को पराभूत करके पूर्ण शुद्ध रुप को प्राप्त होगा अर्थात् सिद्ध परमेष्ठी बनेगा, कायम के लिए मुक्त होगा तब ऐसे वक्त पर हम सब को आनंद का उफान न आये तो ही आश्चर्य की बात होगी। तद्वत् ही जिसने अरिहंत अवस्था प्राप्त की उसके प्रति हमारा मन अत्यंत भक्ति से, आदर से, आनंद से भर जाये यह तो सहज बात है। उसीप्रकार जो मुनि हैं - आचार्य, उपाध्याय, साधु हैं - जिन्होंने यह मोक्षमार्ग अपने में प्रगट किया हुआ है उन्हें देखकर या उनके गुणों का स्मरण होते ही हमारे में भक्तिभाव जागृत होना भी सहज बात है। इसतरह भक्ति और आनंद न होता हो तो ही अचरज की बात है।

जिस मोक्षमार्ग का अवलंबन करके वे अरिहंत और गुरु बन गये उस मार्ग का उपदेश उन्होंने अखिल विश्व को दिया, कोई भी Trade Secret रखा नहीं, किसी भी मत-पंथ का दुराग्रह रखा नहीं, प्राणिमात्र को यह उपदेश दिया। यह उपदेश अर्थात् केवलिप्रणित धर्म अर्थात् सत्शास्त्र उसके प्रति भक्तिभाव उमड़ना सहज में होता है उसके लिए किसी के बताने की - जोर जबरदस्ती करने की आवश्यकता ही नहीं रहती।

'मैं' कौन हूँ समझते ही अपनी पार्टी ख्याल में आती है, बाकी की बातें सहज होती हैं। सारा गडबड घोटाला यहींपर है - मूल में ही भूल है। 'मैं' समझने में ही भूल हो गयी है इसलिए विरोधी पार्टी को ही अपनी पार्टी समझकर उन्हें 'चिअर अप' करने में हमने आज तक का काल गँवाया और मूर्खता की है।

इस 'मैं' का याने 'स्व' का अर्थात् आत्मा का स्वरुप क्या है यह तो सुनो। सुनने के बाद वह सही है या गलत इसका निर्णय करना तो तुम्हारे हाथ में है। परंतु बिना सुने समझे निषेध मत करना।

विश्व की समस्त बातें - सभी पदार्थ इन सात तत्त्वों में गर्भित हैं। इनमें मैं और अन्य सब कुछ ऐसी दो पार्टीयाँ हैं। मैं अर्थात् केवल मैं याने जीवतत्त्व - जिसमें मेरा ज्ञानदर्शन है वह मैं हूँ और पर में अजीवतत्त्व, आस्रवतत्त्व, बंधतत्त्व, संवरतत्त्व, निर्जरातत्त्व और मोक्षतत्त्व सब आते हैं।

देखो, हम ऐसा समझेंगे कि तराजू के दो पलड़ों में से एक पलड़े में मैं - ज्ञान दर्शनमय जीवतत्त्व और दूसरे पलड़े में विश्व के समस्त चराचर पदार्थ - अव्य अनंत जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल, धनसंपत्ति, दुनिया का समस्त वैभव, पृथ्वी, ग्रह, तारे, नक्षत्र, स्वर्ग, नरक सब कुछ, इतना ही नहीं परंतु राग-द्वेषरुपी विकारी पर्यायें तथा संवर निर्जरा मोक्षरुपी शुद्ध पर्यायें; फिर भी 'मैं' वाला पलड़ा ही भारी होगा। विश्व के इन समस्त तत्त्वों से 'मैं' भिन्न तो हूँ ही, सभी से श्रेष्ठ भी हूँ। इन सब चीजों को एक समय में जानने की मेरी शक्ति है। समयसार गाथा ३१ में लिखा ही है कि यह आत्मा अन्य द्रव्यों से ज्ञान स्वभाव के कारण 'अधिक' है, श्रेष्ठ है। गाथा का अर्थ इसप्रकार है, "जो इंद्रियों को जीतकर ज्ञानस्वभाव के द्वारा अन्य द्रव्य से अधिक आत्मा को जानते हैं उन्हें, जो निश्चय नय में स्थित साधु हैं वे, वास्तव में जितेंद्रिय कहते हैं।" यहाँपर मनुष्यपर्याय के बारे में या वर्तमान प्रगट ज्ञान के बारे में चर्चा नहीं हो रही है परंतु 'मैं' कहते ही त्रिकाल शुद्ध केवलज्ञान शक्तिरुप अनंत गुणसंपन्न मैं एक - उस मैं अर्थात् 'स्व' के बारे में हम चर्चा कर रहे हैं और ऐसे 'मैं' याने 'स्व' का अनुभव हमें करना है।

हमारी रोज की जिंदगी में बोलते समय हम 'मैं' शब्द का उपयोग शरीरसहित इस मनुष्यपर्याय को सूचित करने के लिए करते हैं। वैसा बोलना योग्य होनेपर भी

वह उपचार कथन है। उपचार तो कथनमात्र के लिए होता है परंतु वैसा ही मान लेना भूल है।

जैसे, माँ कहते ही जन्म देनेवाली मेरी माँ यह बात हमारे ज्ञान में आती है। हर व्यक्ति की अपनी स्वयं की माँ होती है और वह एक ही होती है। अब उपचार से सास को भी माँ कहते हैं, सौतेली माँ को भी माँ कहते हैं और सभा में 'मेरी माता बहने' कहकर लाखो महिलाओं को माता कहने में आता हैं। परंतु वह उपचार है, कथनमात्र के लिए है। तुम दोनों को पूछा जाये, 'तुम्हारी माता कौन है?' तो तुम केवल मेरे तरफ ही इशारा करोगी। उस समय दुनिया की अन्य सब महिलायें क्या माता नहीं हैं? हैं, परंतु वे तुम्हारी माता नहीं है।

उसीप्रकार मेरा ज्ञानदर्शन जिसमें है वह जीवतत्त्व कहनेपर सहज ही सवाल उठता है कि विश्व के अन्य जीव क्या जीव नहीं हैं ? उसका उत्तर ऐसा है - वे सब जीव तो हैं ही, परंतु 'स्व' जीव अथवा मेरा जीवतत्त्व नहीं हैं। मेरा जीवपना उनमें नहीं है इसलिए मेरी अपेक्षा से उन्हें अजीवतत्त्व कहने में आता है।

स्व जीवतत्त्व की अपेक्षा से अन्य सब जीव - माँ, बाप, पुत्र, देव, गुरु, तथा अन्य समस्त जीव अजीवतत्त्व हैं। अरिहंत - सिद्धों को अजीवतत्त्व कहते ही लोगों को ठेस पहुँचती है, उनमें खलबली मचती है, यह बात रुचती नहीं है और गले उतरती नहीं है, पचती नहीं है।

सोलापूर में इंद्रध्वजविधान के साथ शिबिर आयोजित किया था, तब की बात है। मैं छहढ़ाला की दूसरी ढ़ाल पढ़ा रही थी। उससमय अजीवतत्त्व का स्वरुप सुनकर अनेक महिलाओं ने अरिहंत सिद्धों को अजीवतत्त्व कहनेपर विरोध दर्शाया, क्लास में खलबली मच गयी। विस्तार से बार-बार समझाया, अपेक्षा समझाकर बताया फिर भी, 'अहो ! ऐसा कहने में - अरिहंत सिद्धों को अजीवतत्त्व कहने में बहुत ऑकवर्ड लगता है।' ऐसा एक महिला ने बताया और दूसरी महिलाओं ने उसकी हाँ में हाँ भर दी। अभी तो ऐसे जीवों को इनको अजीवतत्त्व कहने में भी भारी कठिनाई महसूस होती है तो वे मानने को कब तैयार होंगे ?

अजीवतत्त्व तथा अन्य सब तत्त्वों का स्वरुप हम पहले ही देख चुके हैं। इसलिए दुबारा लिखने की जरुरत नहीं है।

सवाल तो यह है कि आप 'मैं' याने 'स्व' को पहचानो" ऐसा कहते हैं तो किसतरह पहचाने ? कुंदकुंद आचार्य ने इस प्रश्न का जबाब दिया है। वे कहते हैं, 'अरे! यह आत्मा तो आबाल गोपाल सब के निरंतर अनुभव में आ ही रहा है।' 'क्या कहती हो?' कहकर तुम अचरज में पड़ गयी हो, है ना? अपनी इस 'अद्भुत कथा' का रहस्योद्घाटन अब अगले पत्र में करना पड़ेगा।

तुम्हारी माँ

पत्रांक २७ २६ फरवरी १९९५

सात तत्त्व - आत्मानुभूति

प्रिय रीना एवं मोना,

अनेक उत्तम शुभाशीर्वाद।

तुम दोनों इस पत्र का बहुत ही आतुरता और उत्कंठता के साथ इन्तजार कर रही हो ऐसा तुमने बताया। शास्त्र स्वाध्याय का प्रयोजन ही यह है कि वीतरागता की प्राप्ति करना अर्थात् आत्मानुभूति करना। जाहिर है हर मुमुक्षु जीव को आत्मानुभूति की तीव्र लगन लगती है। उसकी यह तीव्र रुचि ही उसके उपयोग को आत्मसन्मुख होने में मददगार होती है।

'सात तत्त्वों में एक चैतन्यज्योतिस्वरुप आत्मा ही प्रकाशमान है और वह नित्य उद्योतरुप है, निरंतर सब के अनुभव में आ रहा है' ऐसा आचार्य कहते हैं तब सवाल उठता है कि, 'फिर वह आत्मा हमारे अनुभव में क्यों नहीं आता ?'

देखो तो, 'वह आत्मा' कहकर हमने अपने को भिन्न माना और आत्मा को 'अन्य कोई' माना। इसके लिए नियमित स्वाध्याय, शास्त्र वांचना जरुरी है। द्रव्य गुण पर्याय, सामान्य विशेष गुण, छह द्रव्यों का स्वरुप, सात तत्त्वों का स्वरुप आदि बातों का अब तुम्हें ज्ञान हो गया है। अब तुम्हें शास्त्र तथा धार्मिक साहित्य का स्वयं वाचन करना चाहिए, हो सके तो चर्चा, शिबिर, प्रवचन सुनने चाहिए। हमें कुछ समझ में नहीं आयेगा यह आशंका करने की जरुरत नहीं है। अभी भी तुम्हें चार अभाव, छह कारक, निमित्त- उपादान, निश्चय व्यवहार, लक्षण - लक्षणाभास, कर्म, गुणस्थान आदि अनेक विषयों का ज्ञान प्राप्त करना बाकी है। उन्हें समझने पर वस्तुस्वरुप का यथार्थ निर्णय करने में आसानी होती है।

सात तत्त्वों से मैं भिन्न हूँ इतना जानकर 'स्व' का बोध नहीं होता। इसलिए अब इस 'स्व' के बारे में अधिक जानकारी ले लेते हैं।

मैं ज्ञानदर्शनमय हूँ और मेरा कार्य जानना - जानना - जानना हर समय चालू है। दिनरात यह जानना चल रहा है। यह जानेने का कार्य मैं, मेरे ज्ञानद्वारा कर रहा हूँ। परंतु हमारा संपूर्ण उपयोग (ध्यान, लक्ष) जानने में आनेवाली चीजों पर अर्थात् 'ज्ञेय' पदार्थों पर अर्थात् जिसे जाना जा रहा है ऐसे पदार्थोंपर केंद्रित हुआ है। जो जानता है वह 'ज्ञायक' (ज्ञाता) और जो जाना जाता है वह 'ज्ञेय'।

अब लिखते रामय मुझे कागज दिखायी दे रहा है, उस कागज के अस्तित्व का मुझे पूरा भरोसा है, पंखे की ठंडी हवा आ रही है उसका विश्वास है, ट्रॅफिक की

आवाज का ज्ञान हो रहा है, बाजूवाले मकान में पेंटिंग हो रही है उसकी गंध आ रही है। ये सब बातें याने 'ज्ञेय' मेरे ज्ञान में आ रहे हैं। इन सभी बातों की मुझे अनुभूति याने ज्ञान हो रहा है। परंतु इन सब को जाननेवाला मैं हूँ, मैं मेरे ज्ञान द्वारा इन सब बातों को जान रहा हूँ ऐसी अनुभूति हर एक को हर समय होती है फिर भी आज तक हमने उसकी तरफ कभी ध्यान ही नहीं दिया।

पुस्तक में अक्षर छपे हुअे हैं परंतु पुस्तक में ज्ञानगुण नहीं होने से अक्षर का ज्ञान पुस्तक को नहीं होता तथा उन अक्षरों द्वारा जो अर्थ अभिप्रेत हो रहा है उसका ज्ञान भी पुस्तक को नहीं होता। मैं ज्ञानमय हूँ तथा ज्ञान द्वारा अन्य बातों को जान सकता हूँ। पुस्तक के अक्षरों का तथा उनके अर्थ का भी ज्ञान करनेवाला मैं ज्ञायक हूँ और मैं उन्हें जान रहा हूँ इसलिए वे मेरे ज्ञेय हैं।

'पर' ज्ञेय को जानने में तो हम सब बहुत होशियार हैं। सवाल है 'स्व' को अर्थात् स्व ज्ञेय को जानने का। हर समय हमारी जानने की क्रिया चल रही है वह केवल ज्ञेय को ही प्रसिद्ध नहीं करती, ज्ञायक की भी प्रसिद्धी करती है।

मोना, तुम हमें अेलोरा की गुफाअें दिखाने ले गयी थी। गुफाओं में अंधःकार के कारण कुछ भी दिखायी नहीं दे रहा था। इतने में गाईड ने लाईट चालू करके वहाँ के शिल्प, मूर्ती आदि दिखाना प्रारंभ किया। तब सभी लोग मूर्ती एवं शिल्पकला को सराहने लगे, 'वाह वा!' करने लगे। वे मूर्तियाँ एवं शिल्प तो प्रथम से ही वहाँ मौजूद थे परंतु प्रकाश होते ही उनका सौंदर्य दिखायी देने लगा। क्या वह शिल्प केवल स्वयं को ही प्रसिद्ध न करते हुअे, स्वयं के साथ उस प्रकाश को भी प्रसिद्ध नहीं करता था? अर्थात् वह शिल्प प्रकाश का भी अस्तित्व बता रहा था। परंतु इस बात की ओर हमारा ध्यान ही नहीं जाता।

स्वच्छ और स्थिर पानी में जो प्रतिबिंब दिखायी देता है वह पानी की स्वच्छता जाहिर करता है। दर्पण में जो प्रतिबिंब है वह दर्पण की स्वच्छता प्रसिद्ध करता है। हम दीवार के सामने खड़े न होकर, दर्पण के सामने खड़े होकर अपना प्रतिबिंब निहारते हैं क्योंकि पदार्थों को प्रतिबिंबित करने का गुण दर्पण में है। दर्पण में तो केवल रंग-रुप ही प्रतिबिंबित होते हैं परंतु ज्ञानदर्पण की ऐसी विशेषता है कि उसमें रुपी पदार्थों के स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, आवाज तो झलकते ही हैं परंतु अरुपी पदार्थ (पुद्गल को छोड़कर अन्य पांच द्रव्य), सूक्ष्म पदार्थ (कर्म आदि), दूरवर्ती पदार्थ (असंख्यात द्वीप, समुद्र, स्वर्ग, नरक आदि), सभी द्रव्यों की भूत, वर्तमान, भविष्य की पर्यायें तथा स्वयं के भी अनंत गुण पर्याय इन सभी को एकसाथ एक समय में जानने का सामर्थ्य उस ज्ञान में है।

स्व और पर का भेदज्ञान करना इसका तात्पर्य है भिन्न भिन्न बातों को लक्षणों द्वारा भिन्न पहचानना। ज्ञान यह 'स्व' का प्रगट लक्षण है और जिसमें मेरा

ज्ञानदर्शन नहीं वह सब 'पर' है। हमने आज तक ऐसा माना था कि आँख, नाक, कान आदि इंद्रियाँ जानने का काम करती हैं, शरीर को ज्ञान होता है। परंतु अब इतने दिन के अभ्यास से इस बात का पता चला है कि शरीर तो पुद्गल है क्योंकि उसमें स्पर्श, रस, गंध, वर्ण आदि गुण हैं परंतु ज्ञान नामका गुण नहीं है। मेरा ज्ञान यह लक्षण जिसमें है वह मैं हूँ।

प्रत्येक समय में जिसे जान रहे हैं वह **ज्ञेय**, जो जानता है वह **ज्ञाता**, ज्ञानद्वारा जानता है इसलिए **ज्ञान यह साधन** और **जानने की क्रिया** ये चारों बातें विद्यमान हैं अर्थात् मैं ज्ञानद्वारा ज्ञेय को जानता हूँ ये चारों ही बातें हमारे ज्ञान में आती हैं, अनुभव में आती हैं। जहाँ जहाँ जानने की क्रिया होती है वहाँ वहाँ ज्ञेय, ज्ञाता, ज्ञान और जानने की क्रिया ये सभी बातें हमारे ख्याल में आती हैं। जानने की पर्याय निरंतर हो रही है इसलिए ये चार बातें भी निरंतर हमारे ख्याल में आती हैं।

ये चारों बातें विद्यमान होनेपर और हमारे ज्ञान में आनेपर भी हमारा संपूर्ण ध्यान केवल ज्ञेयपर ही है। इसलिए ज्ञेय का हमें १००% भरोसा है। T.V. देखते समय T.V. ज्ञेय है, जिसने जाना वह ज्ञाता, जिसके द्वारा जाना वह ज्ञान और जाना गया वह क्रिया ऐसी चार बातें हमारे अनुभव में आती हैं। ऐसा होनेपर भी अगर किसी को बताया कि यह जाननेवाला जो आत्मा है वही तुम हो तो उत्तर मिलेगा, 'यह आत्मा फातमा हम कुछ नहीं जानते', 'होता तो दिखता क्यों नहीं ?' अथवा 'आप कहते हो तो होगा बाबा कोई आत्मा !' आदि।

स्व पर भेदविज्ञान और आत्मानुभूति ये प्रत्यक्ष करनेसे होनेवाली बातें - प्रात्यक्षिक याने Practical या Experiment की बातें हैं। हम आप सब जानने का काम तो दिनरात करते ही हैं। वह जानने का काम होते हुअे उसका इन चार प्रकार से विश्लेषण हमें मन में करते रहना चाहिए। खाते समय, रसोई करते समय, T.V. देखते समय हर समय जो जानने की क्रिया होती है इसमें मैं जानता हूँ, ज्ञानद्वारा जानता हूँ, जो जानने में आ रहा है वह ज्ञेय है। ऐसा अभ्यास - प्रैक्टिस करना चाहिए। बारम्बार ऐसा अभ्यास करने से 'स्व' के सन्मुख होने की - स्व की तरफ उपयोग ले जाने की प्रैक्टिस - आदत - कला आत्मसात होती है।

तुम कहोगी, "बस इतनाही करना है ना? फिर तो होगा हमें स्व पर भेदविज्ञान और आत्मानुभूति? उसमें क्या बड़ी बात है? जाननेवाला वह मैं और ज्ञेय सब 'पर', बस हो गया काम!" हां, हां, अरी पहले जरा सुन लो। सर्वज्ञ भगवान भी स्व को और संपूर्ण पर को जानते हैं, परंतु हमारे में और उनमें बहुत बड़ा अंतर है। सब जानते हुअे भी सर्वज्ञ में राग-द्वेष मोह का लेश मात्र भी सद्भाव नहीं हैं, वे पूर्ण वीतरागी हैं। परंतु हम जब ज्ञेय वस्तु को जानते हैं तब हमारा ज्ञान मोह, राग, द्वेषों से मिश्रित - कलुषित होता है।

ज्ञेय वस्तु को जानते समय मैं केवल जाननेवाला हूँ ऐसा न समझकर वह ज्ञेय वस्तु ही मैं हूँ अथवा वह ज्ञेय वस्तु मेरी है, मैं उस ज्ञेय वस्तु का कर्ता हूँ या उसमें बदल करनेवाला हूँ अथवा ज्ञेय वस्तु को भोगनेवाला मैं हूँ ऐसी विपरीत मान्यता के कारण ज्ञेयसंबंधी ज्ञान भी दूषित हो रहा है। जैसे, शरीर ज्ञेय है परंतु शरीर ही मैं हूँ ऐसा आज तक इस जीव ने माना है (एकत्व बुद्धि); बाल-बच्चे, धनसंपत्ति आदि ज्ञेय हैं परंतु ये सब मेरे हैं ऐसा इसने माना है (ममत्व बुद्धि); बच्चे बड़े हुअे अथवा धन का संयोग हुआ उस वक्त ये बातें तो मात्र ज्ञेय थी परंतु इस जीव ने माना कि मैंने बच्चों को बड़ा किया, मैंने धन कमाया आदि (कर्तृत्वबुद्धि); उसीप्रकार पर पदार्थों के संयोग में सुख माना, वियोग में दुःख माना (भोक्तृत्वबुद्धि)। इसतरह एकत्व, ममत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि मान्यताओं से युक्त होने के कारण इस जीव का ज्ञेयसंबंधी ज्ञान भी विपरीत हो रहा है।

परपदार्थ मेरे हैं इतना ही मानकर यह जीव रुका नहीं, तो उन पर पदार्थों के प्रति होनेवाले मोह राग द्वेष के परिणाम भी उसके ज्ञान में झलकने के कारण मोह राग द्वेष मेरा स्वरुप है, मेरा स्वभाव है ऐसा भी इस जीव ने माना। मोह राग द्वेष अर्थात् आस्रव और बंध - विकारी भाव।

तात्पर्य यह हुआ कि ज्ञान में आत्मा (ज्ञाता) भी जानने में आ रहा है, परपदार्थ भी जानने में आ रहे हैं, आत्मा में होनेवाले विकारी - अविकारी भाव भी जानने में आ रहे हैं और पुण्य- पाप भी जानने में आ रहे हैं। ये सभी पदार्थ जानने में आनेपर भी 'मैं' पना स्व आत्मा में दिखेगा, अन्य सब बातों में अहंपना, ममपना आदि भासित नहीं होगा तभी स्व अनुभूति होगी। परपदार्थ अथवा अपने में ही उत्पन्न होनेवाले रागद्वेष इन्हें जानने या न जानने से कोई अंतर पड़नेवाला नहीं है; परंतु उन्हें 'अपना' जानने में निजरुप जानने मानने में मिथ्यात्व होता है। उन्हें पररुप जानने से और स्वयं को ही निजरुप जानने से तो लाभही होगा।

इस जीव को पर को याने परज्ञेय को जानते समय ये राग-द्वेष उत्पन्न हो रहे हैं इसलिए स्व-पर भेदविज्ञान करते समय राग-द्वेष को भी पर के खाते में डालने में आता है। उन्हें पुद्गल कहा है, परद्रव्य कहा है, परभाव कहा है, चैतन्य का विकार होनेपर भी उन्हें जड़ कहा है। हमें अपने शुद्ध स्वरुप का अनुभव करना है इसलिए राग-द्वेष को पुद्गल का बताकर उसपर से हमारा स्वामित्व छुड़ाया है। अपेक्षा ठीक से ध्यान में लेनी चाहिए। अपने लड़के की शादी होनेपर लड़का अगर जोरु का गुलाम बन जाता है तब माँ कहती है बेटा अब बहु का हो गया। बेटा तो माँ का है या बहु का ? उसीतरह राग-द्वेष को पुद्गल समझना यह सब दृष्टि में - श्रद्धा में लेने की बात है। ज्ञान में तो ऐसा ही आयेगा कि राग-द्वेष जीव ही करता है, जीव की ही वह विकारी अवस्था है।

डॉ. हुकमचंदजी भारिल्ल ने 'समयसार अनुशीलन' भाग १ - पृ. २०८, २०९ पर इस संदर्भ में विस्तृत विवेचन किया है, उसे पढ़ना। भारिल्लजी ने लिखा है कि "तेरी आत्मा की सिद्धि इसलिए रुकी हुअी है कि अनुभूतिस्वरुप भगवान आत्मा निरंतर जानने में आते हुऐ भी तू उसे निज नहीं जानता, उसमें अपनापन स्थापित नहीं करता और उसीकाल में जानने में आते हुए रागादि में अपनापन करता है, परपदार्थों में अपनापन करता है। तेरी इतनी-सी भूल के कारण तू संसार में भटक रहा है। तू अपनी इस भूल सुधार ले तो कल्याण होने में देर नहीं।"

उसी पृष्ठ पर स्वामीजी का कथन लिखा है, - "अनुभूतिस्वरुप भगवान आत्मा सदा अन्तर में ही विराजमान है, निरन्तर अनुभव में भी आ रहा है; बस कमी तो इतनी ही है कि ऐसा आत्मज्ञान उदित नहीं हो रहा है कि यह जो ज्ञायक रुप से ज्ञात हो रहा है, वही मैं हूँ।"

देखो तो ! है ना ज्ञानियों के हम पर अनंत उपकार ! अनेक वर्षों के अभ्यास से अध्यात्म का यह विषय उन्होंने अत्यंत सरल भाषा में हमारे सामने प्रस्तुत किया है।

तुम कहोगी, "स्व को जाने या पर को जाने, हम ज्ञान ही तो कर रहे हैं, इसमें आपत्ति - नुकसान क्या है ? और 'स्व' को जानने में लाभ भी क्या होगा ?"

बहुत मार्मिक प्रश्न है और उसका उत्तर भी मार्मिक है। आत्मा ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनंत गुणों का पिंड है। जहाँ ज्ञान है वहीं पर उससे अविनाभावी संबंध होने से अन्य सभी अनंत गुण हैं। ज्ञान जब स्व को याने स्वयं के आत्मा को जानता है उससमय आत्मा के सभी अनंत गुणों का वेदन - अनुभूति होती है और यह अनुभूति ही 'अतींद्रिय आनंद' है। अतींद्रिय ज्ञान अतींद्रिय आनंद से युक्त है। ज्ञान से आनंद भिन्न कर ही नहीं सकते। शास्त्रों में विभिन्न गुणों को मुख्य करके उन विशिष्ट गुणों की अपेक्षा से आत्मा को चिद्घन (चैतन्य का घनपिंड), विज्ञानघन, आनंदघन, वीर्यघन कहा है। यह अतींद्रिय सुख स्वाधीन है, निरपेक्ष है, बाधारहित है, निराकुल है।

तुम फिर से कहोगी, "हमें तो पर को जानते हुए भी सुख प्राप्त हो रहा है। धन कमाते समय, T.V. देखते समय, लड्डू खाते समय हमें तो सुख ही होता है।" बेटा, यह इंद्रिय सुख पराधीन है, दूसरे की अपेक्षा तो वहाँ रहती ही है। इंद्रियाँ स्वस्थ होनी चाहिए, धन-संपत्ति, T.V. होना जरुरी है, बिजली का होना भी जरुरी है। ठीक, इतना सब होनेपर भी शरीर में रोग या पीड़ा होगी तो इन सब बातों में सुख नहीं भासित होता, यह सुख कब नष्ट होगा इसका कोई भरोसा नहीं, यह सुख आकुलता से युक्त है। इस सुख की प्राप्ति के लिए तथा उसे टिकाये रखने के लिए चिंता, भय और अन्य Tensions - आकुलता तो है ही। तो फिर इसे सुख कैसे कह सकते हैं ? यह तो सुखाभास है।

परंतु आत्मा को जानना होगा, उसके आनंद का उपभोग करना होगा तो आत्मा को कहीं ढूँढने की जरुरत नहीं। मंदिर में तीर्थक्षेत्र में वह मिलनेवाला नहीं। मैं स्वयं ही आत्मा हूँ, जिस साधन द्वारा उसे जानना है वह साधन-ज्ञान तो मेरा स्वभाव है, मैं स्वयं ही ज्ञानमय हूँ और जिस क्रिया के द्वारा जानना है वह जाननक्रिया तो निरन्तर चल ही रही है।

इतनी सहज सुलभ प्रक्रिया है। बस, जो ज्ञान परसन्मुख है उसे स्वसन्मुख करना है। सत्य बात तो यह है कि 'करना' यह शब्द भी अनावश्यक है। 'स्व' की रुचि एवं महिमा जागृत होते ही ज्ञान (उपयोग) बार बार स्वकी तरफ मुड़ जाता है। इस आत्मानुभूति के लिए कोई भी कर्म आडा नहीं आ सकता या कोई भी संयोग इसमें बाधा नहीं ड़ाल सकता, पंचमकाल भी उसमें बाधक नहीं होता। जिसे आत्मानुभव की इच्छा एवं लगन नहीं है ऐसे लोग कर्म, संयोग या पंचमकाल को 'हौआ' बनाकर बहाना ढूँढते हैं। क्योंकि अनादि से हमें काम-भोग-बंधन की कथा-वार्ता ही सुनने में आयी है, वही सुलभ लगती है और परस्पर उपदेश भी हम उसी का देते हैं। परंतु आत्मा की कथा अत्यंत सहज और सुलभ होनेपर भी हमने कभी सुनी नहीं और अगर सुनी भी तो उसपर विश्वास नहीं किया। आत्मा के फंदे में फसकर इन ऐहिक सुखों (?) पर पानी फेरने को कोई तैयार नहीं।

परंतु यह सुख अगले भव में साथ आनेवाला नहीं। देखो ना कुछ दिन पहले अपने सायन की तुम्हारे विद्यालय से थोड़ी दूरीपर स्थित पांच मंजिलवाली बिल्डिंग क्षणभर में जमीनदोस्त हो गयी। जिंदगीभर की कमाई हुअी संपत्ति क्या काम आई? अढ़ाई साल पहले लातूर में हुअे भयंकर भूकंप में हजारो लोग कुछ क्षणों में मरण को प्राप्त हुअे, घरबार - संपत्ति विनाश को प्राप्त हुअी - सबकुछ मिट्टी में मिल गया। ना जिंदगी का भरोसा ना संपत्ति का भरोसा।

अतींद्रिय ज्ञान और आनन्द तो अगले भव में भी साथ जाता है। एक बार उसका अनुभव करने से उत्तरोत्तर उसमें वृद्धि ही होती जाती है और पूर्णता होकर केवलज्ञान एवं अनंत सुख की प्राप्ति होती है।

आत्मानुभव ही जिनशासन है, यही सभी प्रवचनों का सार है। आत्मानुभव का स्वरुप जानते ही उसको प्रगट करके स्वयं का कल्याण कर लो ऐसा किसी बुद्धिमान जीव को कहने की कोई आवश्यकता ही नहीं रहती। तुम भी यह कल्याण का मार्ग अंगिकार करोगी ही इस बात का मुझे पक्का विश्वास है।

अच्छा, विराम लेती हूँ।

कल्याणमस्तु,

तुम्हारी माँ

शास्त्राभ्यास की महिमा

देखो ! शास्त्राभ्यास की महिमा, जिसके होनेपर परंपरा आत्मानुभव दशा को प्राप्त होता है, मोक्षरुप फल को प्राप्त होता है। यह तो दूर ही रहो, तत्काल ही इतने गुण प्रगट होते हैं -

१. क्रोधादि कषायों की तो मंदता होती है।

२. पंचेंद्रियों के विषयों के बारें में प्रवृत्ति रुकती है।

३. अति चंचल मन भी एकाग्र होता है।

४. हिंसादि पांच पापोंमें प्रवृत्ति नहीं होती।

५. स्तोक (अल्प) ज्ञान होनेपर भी त्रिलोक के तीन कालसंबंधी चराचर पदार्थों का जानना होता है।

६. हेय - उपादेय की पहचान होती है।

७. ज्ञान आत्मसन्मुख होता है।

८. अधिक - अधिक ज्ञान होनेपर आनंद उत्पन्न होता है।

९. लोक में महिमा - यश विशेष होता है।

१०. सातिशय पुण्य का बंध होता है।

- पं. टोडरमलजी- 'सम्यग्ज्ञानचंद्रिका'